# बी० ए० (स्नातक) पार्ट - III
# दर्शन शास्त्र पत्र - VI


| क्रम सं० | पाठ | पाठ सं० | पृष्ठ सं० |
|---|---|---|---|
| 1. | समाज दर्शन का स्वरूप | 1 | 02 |
| 2. | समाज - दर्शन एवं समाजशास्त्र का सम्बन्ध | 2 | 10 |
| 3. | नागरिक कर्त्तव्य | 3 | 17 |
| 4. | व्यक्ति एवं समाज | 4 | 24 |
| 5. | परम्परा एवं आधुनिकता | 5 | 31 |
| 6. | जाति एवं वर्ग | 6 | 38 |
| 7. | विवाह और तलाक | 7 | 45 |
| 8. | निजी सम्पत्ति | 8 | 56 |
| 9. | ट्रस्टीशिप या संरक्षता का सिद्धांत | 9 | 64 |
| 10. | राजनीति दर्शन का स्वरूप | 10 | 71 |
| 11. | राजनीति दर्शन और राजनीति शास्त्र | 11 | 79 |
| 12. | राजनीतिक अवधारणाएँ - स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय | 12 | 86 |
| 13. | राजनीतिक अवधारणाएँ - अधिकार एवं कर्त्तव्य | 13 | 94 |
| 14. | राजनीतिक धारणाएँ - शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता | 14 | 102 |
| 15. | राजनीतिक बाध्यता | 15 | 110 |
| 16. | राजनीतिक आदर्श - लोकतंत्र | 16 | 118 |
| 17 | राजनीतिक आदर्श - समाजवाद | 17 | 127 |
| 18. | राजनीतिक आदर्श : मार्क्सवाद एवं साम्यवाद | 18 | 136 |
| 19. | राजनीतिक आदर्श : राजतंत्र | 19 | 146 |
| 20. | अराजकतावाद | 20 | 153 |
| 21. | सर्वोदय | 21 | 162 |
| 22. | राजनीतिक आदर्श ''सत्याग्रह'' | 22 | 171 |

# समाज दर्शन का स्वरूप

पाठ संरचना


1.1 उद्देश्य

1.2 विषय-प्रवेश

1.3 मुख्य विषय - समाज दर्शन के स्वरूप की व्याख्या

- 1.3.1 उपविषय - समाज दर्शन की परिभाषा
- 1.3.2 उपविषय - समाज दर्शन के प्रमुख लक्षण
- 1.3.3 उपविषय - समाज दर्शन की समस्याएँ एवं क्षेत्र
- 1.3.4 उपविषय - समाज दर्शन का मूल्य
- 1.3.5 उपविषय - निष्कर्ष

1.4 सारांश

1.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

1.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 1.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 1.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 1.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1.7 प्रस्तावित पाठ


## 1.1 उद्देश्य

समाज दर्शन के स्वरूप की व्याख्या के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह है कि हम दर्शनशास्त्र की इस नवीन शाखा जो मानव समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है, उससे परिचित हो जाएँ। वैसे तो मानव समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन प्राचीन काल से होता आ रहा है, पर एक पृथक् विज्ञान के रूप में यह 19वीं शताब्दी में प्रचलित हुआ। अत: हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम समाज-दर्शन की परिभाषा, इसके स्वरूप, इसकी समस्याएँ एवं इसके अध्ययन के मूल्य से भली-भाँति परिचित हो जाएँ। इसी उद्देश्य से समाज-दर्शन के स्वरूप की व्याख्या की जा रही है और इसी उद्देश्य से इस पाठ की संरचना भी की गयी है।

## 1.2 विषय-प्रवेश

जैसा कि ऊपर कहा गया है समाज-दर्शन अपेक्षाकृत दर्शन की एक नवीन-शाखा है। पाश्चात्य दर्शन के

इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि सुकरात के पूर्व विचारकों का ध्यान विश्व के मूल तत्व की खोज तक ही सीमित था। सूफियों ने सर्वप्रथम उनका ध्यान मानव समस्याओं की ओर खींचा। इसके फलस्वरूप सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिकों का ध्यान केवल विश्व के मूल तत्व तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। उन्होंने नीति, राजनीति ज्ञानशास्त्र आदि विषयों पर मानक ग्रंथों का निर्माण किया। फलस्वरूप, मानव समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन प्रारंभ हुआ। वर्तमान काल में लॉक, हॉब्स, रूसो, मैकेंजी, रसेल आदि ने इस क्षेत्र में अपना योगदान दिया। भारतवर्ष में तो दार्शनिकों ने वैदिक काल से ही मानव-समाज की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया था। मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, वात्स्यायन आदि के महत्वपूर्ण योगदान रहे हैं।

इस प्रकार, मानव-समाज का अध्ययन तो प्राचीन काल से होता चला आया है, मगर एक पृथक् विज्ञान के रूप में यह 19वीं शताब्दी में ही प्रतिष्ठित हुआ है। समाज-दर्शन का विकास हुआ और विचार के क्षेत्र में इसे एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया।

जैसा कि हम जानते हैं प्रत्येक समाज-विज्ञान के अपने अलग-अलग निष्कर्ष होते हैं। ऐसी अवस्था में विभिन्न समाज-विज्ञानों के निष्कर्षो के मूल्यांकन की भी आवश्यकता हो गई। अत: एक ऐसे विषय की आवश्यकता होने लगी, जिसमें समाज-विज्ञानों के निष्कर्षो का समन्वय तथा मूल्यांकन हो सके, जिसमें सामाजिक तथ्यों का अध्ययन नहीं, वरन् उन आदर्शो का अध्ययन हो जिन्हें मनुष्य को अपने जीवन में प्राप्त करना चाहिए। इस विषय को ही "समाज-दर्शन" कहा जाने लगा। इस प्रकार, समाज-दर्शन की उत्पत्ति एवं विकास हुआ।

## 1.3 मुख्य विषय : समाज-दर्शन के स्वरूप की व्याख्या

समाज-दर्शन समाज, सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक आदर्शो एवं मूल्यों का सुव्यवस्थित विचारशील चिंतन करता है। समाज-दर्शन परिवर्तनशील मानव-समाज के अर्थ, उद्देश्य एवं मूल्य का अध्ययन करता है। यह सामाजिक मूल्यों का दर्शन है, अत: यह एक आदर्शमूलक विज्ञान है। अत: यह वर्णनात्मक विज्ञानों से भिन्न है। वर्णनात्मक विज्ञान जैसे अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि तथ्यों का पता लगाते हैं और जिस रूप में उनका अनुभव होता है, वैसा ही उसका वर्णन करते हैं। इसके विपरीत, आदर्शमूलक विज्ञान आदर्शो एवं मूल्यों की व्याख्या करता है तथा किसी तथ्य को कैसा होना चाहिए इस संदर्भ में उसकी व्याख्या करता है।

समाज-दर्शन एक आदर्शमूलक विज्ञान है क्योंकि यद्यपि यह समाज-विज्ञानों से तथ्य एकत्रित करता है तथापि यह उसी रूप में उसकी व्याख्या न करके, उसका मूल्यांकन करता है, उसकी समीक्षा करता है। सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना के लिए जो आदर्श नियम हैं, उनकी स्थापना समाज-दर्शन करता है। समाज-दर्शन सामान्य शुभ का अध्ययन करता है तथा समाज के आदर्श की स्थापना करता है। साथ ही साथ, यह उन आदर्शो की प्राप्ति का मार्ग भी दर्शाता है। मैकेंजी के शब्दों में, "Social philosophy, in particular, concentrates its attention on the social unity of mankind and seeks to interpret the significance of the special aspects of human life with reference to their unity. It thus means mainly the effort to study values, ends, ideals, not primarily what exists or may be expected to exist, but rather the meaning and worth of these modes of existence."

इस प्रकार, समाज-दर्शन तथ्यों की खोज नहीं करता है। यह सामाजिक तथ्यों के वर्णन से सम्बन्ध भी नहीं रखता है, अपितु उन तथ्यों की सार्थकता तथा प्रामाणिकता के चिन्तन से सम्बन्ध रखता है। इसका मुख्य कार्य है सामाजिक तथ्यों के प्रकाश में सामाजिक मूल्यों का परीक्षण करना है। इस परीक्षण के फलस्वरूप समाज-दर्शन सामाजिक शुभ का सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करता है। प्रो० हॉब्हाउस के शब्दों में, We set before ourselves a conception of the harmonious fulfilment of human capacity as the substance of happy life, and we have to enquire into the conditions of its relations. We consider laws, customs and institutions in

respect of their functioning not merely in maintaining any sort of social life but in maintaining and promoting a harmonious life."

### 1.3.1 उपविषय : समाज-दर्शन की परिभाषा

समाज-दर्शन दो शब्दों के मेल से बना है- समाज एवं दर्शन। शाब्दिक रूप में यह समाज का दर्शन है। दर्शन को अंग्रेजी में 'Philosophy' कहते हैं जो दो शब्दों के मेल से बना है- 'Philos' और 'Sophia'. Philos का अर्थ प्रेम या अनुराग और Sophia का अर्थ है ज्ञान। अतः Philosophy का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञान के प्रति प्रेम या अनुराग। समाज को अंग्रेजी में Society कहते हैं जो "Socius" शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'समाज' होता है। इस प्रकार, समाज-दर्शन समाज का दर्शन है।

दर्शन के विषय में तो हम जानते ही हैं कि यह विश्व एवं जीवन का बौद्धिक एवं समलोचनात्मक अध्ययन करता है। समाज व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें कोई व्यवस्था होती है, कोई लक्ष्य या ध्येय होता है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का योग या ताना-बाना होता है। (Society is a web or net-work of social relationships.) दर्शन किसी विषय का सुव्यवस्थित विचारशील चिन्तन करता है। इस प्रकार, समाज-दर्शन समाज, सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का सुव्यवस्थित विचारशील चिंतन करता है तथा उसकी समालोचनात्मक (समीक्षात्मक) अध्ययन करता है। समाज-दर्शन जटिल सामाजिक सम्बन्धों के प्रश्नों की चर्चा करता है।

इस प्रकार, समाज-दर्शन मानव समाज की उसकी पूर्णता में अध्ययन करता है। मैकेंजी के शब्दों में, "Social philosophy seeks to explain the nature of society in the light of the principle of social solidarity." इस प्रकार, समाज-दर्शन सामाजिक जीवन के अर्थ का निर्धारण करता है। समाज-दर्शन तथ्यों को समाजशास्त्र से ही लेता है क्योंकि समाज-दर्शन कभी-कभी समाजशास्त्रों की अवहेलना नहीं कर सकता है। अतः समाज-दर्शन समाज एवं सामाजिक जीवन का दार्शनिक एवं तात्विक अध्ययन करता है।

### 1.3.2 उपविषय : समाज-दर्शन के प्रमुख लक्षण

समाज-दर्शन समाज के विभिन्न पहलुओं का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। समाज-दर्शन एवं समाज-शास्त्र का पारस्परिक भेद बहुत ही सूक्ष्म है। उन्नीसवीं शताब्दी में समाज-दर्शन का क्षेत्र समाजशास्त्र से अलग माना गया और इसका अलग से अध्ययन किया जाने लगा। यद्यपि व्यावहारिक स्तर पर दोनों में विशेष अन्तर नहीं है, फिर भी सैद्धांतिक दृष्टि से दोनों में भेद है। समाज शास्त्र एक व्यापक शास्त्र है जो मानव-जीवन के हर पहलू का अध्ययन करता है। यह मानव समुदाय की उत्पत्ति, विकास तथा उसके विभिन्न रूपों, संस्थाओं और भाषाओं का अध्ययन करता है। संक्षेप में, समाज-दर्शन मानव के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करता है।

समाज-दर्शन का क्षेत्र सीमित है। यह सर्वोच्च सामाजिक मूल्यों के संदर्भ में सामाजिक विज्ञान के निष्कर्षो का मूल्यांकन करता है। अतः, इसका सम्बन्ध सभी तथ्यों से न होकर केवल महत्वपूर्ण तथ्यों से ही है।

समाज-दर्शन का सम्बन्ध 'मनुष्य' के अतिरिक्त और किसी प्राणी से नहीं है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः, समाज-दर्शन में इसी का अध्ययन किया जाता है। समाज-दर्शन 'प्रकृति' का भी अध्ययन नहीं करता है क्योंकि प्राकृतिक वस्तुओं के बीच का संबंध सामाजिक संबंधों से भिन्न है। इस प्रकार, समाज-दर्शन केवल मानव समाज का ही अध्ययन करता है।

जिस प्रकार, दर्शनशास्त्र विज्ञानों के मौलिक आधारों का अध्ययन करता है, उसी प्रकार समाज-दर्शन समाज के मूलभूत आधारों का अध्ययन करता है। जैसा कि Ginsberg का कहना है, "It seeks to disentangle the fundamental categories which they employ, the assumptions, postulates or presuppositions upon which they rest and to subject them to analytical scrutiny and constructive re-interpretation."

इस प्रकार, समाज-दर्शन समीक्षात्मक है। समीक्षात्मक पक्ष में यह सामाजिक विज्ञानों की पद्धति, मान्यताओं

एवं मौलिक सिद्धान्तों की समीक्षा करता है तथा उनकी व्याख्या करता है। इसका एक पक्ष सर्जनात्मक भी है। यह सामाजिक सम्बन्धों के सर्वोच्च मूल्यों की खोज भी करता है। समाज-दर्शन विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक भी है।

समाज-दर्शन समाज का समुचित चित्र प्रस्तुत करता है। यह समाज की प्रत्येक घटना को सम्पूर्ण का एक अंश मानता है तथा प्रत्यक्ष, तर्क तथा अन्त:अनुभूति के माध्यम से समाज की उसकी सम्पूर्णता में देखता है।

समाज-दर्शन समाज-विज्ञानों द्वारा प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञानों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है, उनमें एकता लाने का प्रयास करता है। समाज-दर्शन विभिन्न समाज-विज्ञानों द्वारा प्राप्त तथ्यों एवं सत्यों के परस्पर विरोध को दूर करने का प्रयास करता है तथा उनमें सामांजस्य स्थापित करता है। यह सामाजिक घटनाओं की समष्टि की दृष्टि से व्याख्या एवं उनका मूल्यांकन आचारशास्त्र एवं गहनतम मूल्यों के आधार पर करता है।

समाज-दर्शन आदर्शमूलक विज्ञान है। यह समाज की आदर्श एकता की कल्पना करता है और इसी सामाजिक एकता के अनुसार मानव-जीवन के विशेष रूपों की सार्थकता की व्याख्या करता है।

"Social philosophy concentrates its attention on social unity and seeks to interpret the significance of special aspects of human life with reference to that unity."

समाज-दर्शन सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के चरम लक्ष्य का अध्ययन करता है, उसके महत्व का अध्ययन करता है। वह इसका निर्धारण करता है कि समाज का क्या आदर्श होना चाहिए, समाज के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है ?

इस प्रकार समाज दर्शन के दो प्रमुख लक्ष्य हैं :-

(1) आदर्शों, लक्ष्यों या मूल्यों का अध्ययन।

(2) समाज-विज्ञान की पूर्व मान्यताओं का अध्ययन।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है इसका यथार्थ से कोई संबंध नहीं है। यह ठीक है कि सामाजिक तथ्यों की ऐतिहासिक विवेचना से समाज-दर्शन का सम्बन्ध नहीं है। पर समाज-दर्शन में तथ्यों का क्या महत्व है, इसकी विवेचना होती है। इसलिए समाज-दर्शन सामाजिक या राजनीतिक सुधार का कोई रास्ता नहीं बतलाता, पर समाज या सामाजिक संस्थाओं की दिशा को निर्धारित करता है। मैकेंजी ने ठीक ही कहा है कि दार्शनिक सिद्धान्तों का सामाजिक समस्याओं पर आरोपण करना ही समाज-दर्शन है। दार्शनिक सिद्धान्तों के द्वारा समाज-दर्शन आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करता है।

### 1.3.3 उपविषय : समाज-दर्शन की समस्याएँ एवं क्षेत्र

समाज-दर्शन मानव समाज से सम्बन्धित है। पर, मानव समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन भिन्न-भिन्न समाज-विज्ञानों में होता है। समाज-दर्शन समाज-विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वय करता है तथा उनकी विधियों की सार्थकता की विवेचना करता है। समाज-दर्शन सामाजिक आदर्शों, मूल्यों तथा लक्ष्यों से भी विशेष रूप में सम्बन्धित है। समाज दर्शन की समस्याएँ निम्नलिखित हैं :-

(क) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य की सामाजिकता की व्याख्या कैसे करें तथा मनुष्य में कौन सा तथ्य उसे सामाजिक बनाता है। समाज-दर्शन की यह प्रमुख समस्या है।

(ख) समाज-दर्शन की दूसरी समस्या है यह जानना कि समाज का आधार क्या है ? क्या समाज प्राकृतिक है अथवा कृत्रिम ? इस समस्या के विषय में मैकेंजी का कहना है, "The problem is still on the whole, the one that was raised at the first beginning-viz, in what sense and to what extent, can human society be properly described as natural." अत: समाज-दर्शन की एक प्रमुख समस्या यह खोज करना है कि सामाजिक सम्बन्ध कहाँ तक प्राकृतिक है तथा कहाँ तक कृत्रिम।

(ग) समाज-विज्ञान सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप एवं विकास का अध्ययन करता है। समाज-दर्शन सामाजिक समुदायों, संस्थाओं आदि का आधार ढूँढ़ता है।

(घ) समाज-दर्शन का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों, आदर्शों तथा लक्ष्यों से हैं। यह इस बात की विवेचना करता है कि सामाजिक संस्था, प्रथा या परम्परा के द्वारा उन उद्देश्यों की पूर्ति कैसे होगी ?

(ङ) समाज-दर्शन व्यक्तियों के कर्मों के लक्ष्य की चर्चा करता है। मनुष्य अपने नैतिक लक्ष्यों की पूर्ति समाज के द्वारा ही कर सकता है। अतः समाज-दर्शन की यह समस्या है कि उन सामाजिक संस्थाओं की विवेचना करें जो मनुष्य के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक हो।

(च) प्रत्येक समाज-विज्ञान के अध्ययन की विधि अलग है। समाज-दर्शन इन विधियों का मूल्यांकन कर सकता है।

(छ) समाज परिवर्तनशील है। समाज-दर्शन सामाजिक परिवर्तन के कारणों का अध्ययन करता है। यह सामाजिक प्रगति का भी अध्ययन करता है।

(ज) सामाजिक नैतिकता की समस्या भी समाज-दर्शन की ही समस्या है। सामाजिक अपराध एवं दंड का विधान भी समाज-दर्शन के अन्तर्गत ही आता है।

(झ) समाज-दर्शन का सम्बन्ध उन सिद्धान्तों से भी है जो सामाजिक एकता की स्थापना करते हैं। इस संदर्भ में यह भाषा, धर्म आदि की सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन भी करता है।

इस प्रकार समाज-दर्शन समाज के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित है। समाज-दर्शन समाज-विज्ञान की प्रमुख समस्याओं का समाधान करता है तथा उनकी मान्यताओं एवं निष्कर्षों का समन्वय करता है। सामाजिक दार्शनिकों की प्रवृत्ति बौद्धिक, समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक होती है। वह दार्शनिक पद्धति के द्वारा निष्कर्षों तक पहुँचने की चेष्टा करता है।

### 1.3.4 उपविषय : समाज दर्शन का मूल्य

समाज-दर्शन का मूल्य समाज-दर्शन के स्वरूप, समस्याएँ एवं क्षेत्र से स्पष्ट हो जाता है। समाज-दर्शन मानव आचरण के मौलिक सिद्धान्तों का परीक्षण करता है तथा सभी सामाजिक विज्ञानों के लिए ठोस आधार तैयार करता है। जिस प्रकार दर्शन भौतिक विज्ञानों के निष्कर्षों को सम्बन्धित करता है उसी प्रकार समाज-दर्शन सामाजिक निष्कर्षों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है। यह सामाजिक वैज्ञानिकों की समस्याओं का दार्शनिक विवेचन करता है तथा सर्वोच्च सामाजिक शुभ के प्रकाश में उसका मूल्यांकन करता है। सामाजिक वैज्ञानिकों को कई बार सामाजिक दार्शनिकों से विचार-विमर्श भी करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, प्लेटो तथा अरस्तू के सामाजिक दर्शन का प्रभाव उस समय के सामाजिक वैज्ञानिकों पर पड़ा। आधुनिक युग में विलियम जेम्स तथा जॉन डूवी ने भी विभिन्न समाज-विज्ञानों पर गहरा प्रभाव डाला है। इस प्रकार, समाज-दर्शन का मूल्य निम्नलिखित है-

(क) व्यक्तिगत जीवन का विकास - चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसे सामाजिक समस्याओं एवं सम्बन्धों के बारे में विचार करना आवश्यक है। इसके लिए उसे सामाजिक मूल्यों की जानकारी होनी चाहिए। समाज दर्शन मनुष्य से सम्बन्धित सामाजिक मूल्यों की विवेचना एवं परीक्षण करता है।

(ख) दूसरों को समझने में सहायक - समाज-दर्शन यह दर्शाता है कि अपने जीवन के मूल्यों को तब तक प्राप्त नहीं कर सकता है जब तक उसे सामाजिक मूल्यों की जानकारी न हो। समाज-दर्शन एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत करता है जिसके प्रकाश में मनुष्य का सामाजिक आचरण सुधर सकता है तथा वह दूसरों को भी समझ सकता है।

(ग) सामाजिक जीवन पर प्रभाव - समाज सम्बन्धों का योग या ताना-बाना है। ये सामाजिक सम्बन्ध परिवार, रोजगार तथा संस्थाओं में विकसित होता है। ये सभी समाज-दर्शन से प्रभावित होते हैं।

(घ) राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास में सहायक - समाज-दर्शन राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करता है। किसी भी राष्ट्र का सामाजिक दर्शन उसके सांस्कृतिक विकास की चरम सीमा को प्रतिबिम्बित करता है। भारतवर्ष में भी समाज-दर्शन का प्रभाव यहाँ के रीति-रिवाज, परम्परा, धर्म एवं संस्कृति पर पड़ा है।

(ङ) आर्थिक जीवन पर प्रभाव - समाज-विचार अथवा सामाजिक दार्शनिक जैसे कार्ल मार्क्स एवं गाँधीजी के विचारों का प्रभाव करोड़ों लोगों के आर्थिक जीवन पर पड़ा है। किसी भी देश का समाज-दर्शन उस देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है।

(च) राजनीतिक जीवन पर प्रभाव - समाज दर्शन राज्य और नागरिकों के अधिकारों एवं दायित्वों का परीक्षण करता है तथा मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के संदर्भ में इन सबों की चर्चा करता है।

(छ) शिक्षा के क्षेत्र में योगदान - समाज-दर्शन शैक्षणिक व्यवस्था के दार्शनिक आधार का निर्माण करता है। यह मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करता है ताकि उसी अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जा सके। इस प्रकार, समाज-शास्त्र मनुष्य के सर्वांगीण विकास की चेष्टा करता है।

(ज) ज्ञान के प्रसार में सहायक - समाज-दर्शन सभी समाज-विज्ञानों का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है तथा सभी समाज-विज्ञानों के निष्कर्षों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है। इस प्रकार, यह सभी विज्ञानों का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

### 1.3.5 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज-दर्शन सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है। जहाँ प्रत्येक समाज-विज्ञान का सामाजिक जीवन के विशेष क्षेत्र से सम्बन्ध होता है, समाज-दर्शन का सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध होता है। इस प्रकार, समाज-दर्शन का सम्बन्ध एवं महत्व सम्पूर्ण मानव-जीवन से है अथवा मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है।

## 1.4 सारांश

इस प्रकार, समाज-दर्शन का महत्व मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है। शिक्षा के क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में और राजनीतिक क्षेत्र में भी समाज-दर्शन का विशेष महत्व है। समाज दर्शन मानव के व्यवहार के आधारभूत सिद्धान्तों का परीक्षण करता है। इसका सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों की स्थापना करने तथा सामाजिक सिद्धान्तों की समीक्षा करने से है। समाज-दर्शन का मुख्य लक्ष्य तथ्यों को ढूँढ़ निकालना नहीं है, बल्कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों द्वारा प्राप्त ज्ञान का मूल्यांकन एवं उसकी व्याख्या करना है।

मैकेंजी के शब्दों में, "It does help us to see what are the guiding principles by which our course has to be directed." इस प्रकार, समाज दर्शन का मूल्य, दर्शन की ही भाँति, इस कारण से है कि यह सामाजिक विकास की दिशा निर्धारित करता है। यह उन मूल्यों एवं आदर्शों को दर्शाता है जिसपर मनुष्य की सामाजिक प्रगति निर्भर करती है। यह समाज विज्ञानों की मान्यताओं, सिद्धान्तों और निष्कर्षों की वैधता की परीक्षा करता है और विभिन्न समाज-विज्ञानों के निष्कर्षों का समन्वय करता है। यह सामाजिक जीवन के चरम मूल्यों को निर्धारित करता है और उन्हें प्राप्त करने की विधियाँ भी बतलाता है।

## 1.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

समाज, सामाजिक, दर्शन, सामाजिक मूल्य, समाज-विज्ञान, स्पष्ट, निर्धारित, दार्शनिक आधार, निष्कर्ष, समन्वयीकरण, समीक्षा, मूल्यांकन, विश्लेषण, आदर्शमूलक, मानव-सम्बन्ध, रचनात्मक, सामाजिक आदर्श, सामाजिक जीवन, अध्ययन।

## 1.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 1.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. समाज दर्शन अध्ययन करता है-

(क) सामाजिक सम्बन्ध, परम्परा, तथ्यों का

(ख) समाज का

(ग) सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का

**उत्तर (ग)**

2. समाज-दर्शन है-

(क) विश्लेषणात्मक

(ख) संश्लेषणात्मक

(ग) विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक दोनों

(घ) कोई नहीं

**उत्तर (ग)**

### 1.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर उपविषय संख्या में)

1. समाज दर्शन के प्रमुख लक्षणों की विवेचना करें।

(उत्तर – उपविषय 1.3.2)

2. समाज दर्शन की प्रमुख समस्याएँ क्या हैं ?

(उत्तर – उपविषय 1.3.3)

3. समाज दर्शन के अध्यन का मूल्य क्या है ? चर्चा करें।

(उत्तर – उपविषय 3.4)

### 1.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाज दर्शन के स्वरूप एवं क्षेत्र की विवेचना करें।

2. समाज दर्शन की परिभाषा स्पष्ट करें। इसके अध्ययन के महत्व बताएँ।

## 1.7 प्रस्तावित पाठ

| | | | |
|---|---|---|---|
| (क) | समाजशास्त्र के सिद्धान्त | – | G. K. Agarwal |
| (ख) | प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | Ashok Kumar Verma |
| (ग) | समाजशास्त्र परिचय | – | G. K. Agarwal |
| (घ) | Social Philosophy | – | Dr. Vatsyayana |
| (ङ) | Outline of Social Philosophy | – | J. S. Macenzie |

❖❖❖❖

# समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र का सम्बन्ध

पाठ संरचना


2.1 उद्देश्य

2.2 विषय-प्रवेश

2.3 मुख्य विषय - समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र के सम्बन्ध की व्याख्या

- 2.3.1 उपविषय - समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र की परिभाषा
- 2.3.2 उपविषय - समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र का स्वरूप
- 2.3.3 उपविषय - समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र का सम्बन्ध
- 2.3.4 उपविषय - निष्कर्ष

2.4 सारांश

2.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

2.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 2.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 2.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 2.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

2.7 प्रस्तावित पाठ


## 2.1 उद्देश्य

समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र दोनों का सम्बन्ध मानव-समाज से है। दोनों ही मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक समस्यायों आदि का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार, समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों एक ही प्रकार की समस्याओं का, विभिन्न दृष्टिकोण तथा विभिन्न विधि से अध्ययन करते हैं।

अतः समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र दोनों के सम्बन्ध की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह है कि ज्ञान की इन दोनों शाखाओं के स्वरूप का विश्लेषण करें तथा दोनों के बीच जो समानताएँ एवं भिन्नताएँ हैं उसकी खोज करें। इससे समाज-दर्शन के स्वरूप के ज्ञान में वृद्धि होगी तथा दर्शन की इस नवीन शाखा के ज्ञान में बढ़ोत्तरी होगी। इसी उद्देश्य से इस पाठ की संरचना की गयी है।

## 2.2 विषय प्रवेश

जैसा कि हमने पिछले पाठ में पढ़ा है, समाज-दर्शन समाज, सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक आदर्शों एवं

मूल्यों का सुव्यवस्थित विचारशील चिन्तन करता है तथा इनका समीक्षात्मक अध्ययन करता है। समाज-दर्शन जटिल सामाजिक संबंधों के प्रश्नों की चर्चा करता है। समाज-दर्शन परिवर्तनशील मानव-समाज के अर्थ, उद्देश्य एवं मूल्य का अध्ययन करता है। यह सामाजिक मूल्यों का दर्शन है, अत: यह एक आदर्शमूलक विज्ञान है।

समाजशास्त्र वह समाज-विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र सामाजिक प्रक्रियाओं एवं सामाजिक घटनाओं का परीक्षण करता है। यह मानव-जीवन के हर पहलू का अध्ययन करता है। इसमें मानव-समाज की उत्पत्ति, विकास तथा उसके विभिन्न रूपों, परिचलनों, संस्थाओं तथा भाषाओं का अध्ययन होता है।

इस प्रकार, समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों ही मानव-समाज से संबंधित है। दोनों ही मानव-समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। अत: दोनों की समस्याएँ एक ही हैं। प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान के ये दोनों शाखाएँ किस प्रकार इन समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते हैं।

अत: इस पाठ में हम यह देखेंगे कि किस प्रकार समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र अपने अध्ययन के विषय पर चर्चा करते हैं। हम यह भी देखेंगे कि दोनों के अध्ययन की विधि क्या है तथा समाज एवं सामाजिक जीवन के किन पहलुओं पर उनका जोर है।

अंत: में हम समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र में संबंध स्थापित करने की चेष्टा भी करेंगे।

## 2.3 मुख्य विषय - समाज दर्शन एवं समाजशास्त्र में संबंध

जैसा कि पहले भी चर्चा हुई, दोनों समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों ही मानव-समाज से संबंधित हैं। समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जो सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र की अनेकों शाखाएँ है जो मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित हैं। समाजशास्त्र की सभी शाखाएँ अनुभव के आधार पर तथ्यों को एकत्रित करती हैं और उनका विश्लेषण करती हैं। इस प्रकार, समाजशास्त्र एक विश्लेषणात्मक एवं यथार्थ विज्ञान है।

समाज-दर्शन भी मानव-समाज का ही अध्ययन करता है, किन्तु एक आदर्शमूलक विज्ञान होने के कारण समाज-दर्शन एक परिवर्तनशील मानव समाज के अर्थ, लक्ष्य एवं मूल्य का अध्ययन करता है। समाज-दर्शन सामाजिक सिद्धान्तों का समन्वय कर सामाजिक शुभ का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है। उदाहरणस्वरूप समाजशास्त्र विवाह एवं तलाक संबंधी तथ्यों को इकट्ठा कर हमें इनके बारे में जानकारी अवश्य देता है। मगर विवाह का मूल्य क्या है तथा तलाक न हो इसके लिए हमें सतर्क रहना चाहिए, ये सारी समस्याएँ समाज-दर्शन की हैं।

इस प्रकार, समाज दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों एक ही समस्या का अध्ययन करते हैं मगर दोनों के अध्ययन की विधि तथा उनका दृष्टिकोण अलग है।

### 2.3.1 उपविषय : समाजदर्शन एवं समाजशास्त्र की परिभाषा

समाज-दर्शन दो शब्दों के मेल से बना है-समाज एवं दर्शन। शाब्दिक रूप में यह समाज का दर्शन है। अब हमें देखना है कि समाज किसे कहते हैं तथा दर्शन क्या है ? दर्शन के विषय में तो हम यह जानते ही हैं कि यह विश्व एवं जीवन का बौद्धिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करता है।

समाज व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें कोई व्यवस्था होती है। समाज सामाजिक संबंधों का योग अथवा ताना-बाना होता है। (Society is a web or net-work of social relationships). दर्शन किसी विषय का सुव्यवस्थित विचारशील अध्ययन करता है। इस प्रकार समाज-दर्शन समाज, सामाजिक संबंधों तथा सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों का सुव्यवस्थित विचारशील चिन्तन करता है तथा इनका समीक्षात्मक अध्ययन करता है।

समाज-दर्शन जटिल सामाजिक संबंधों के प्रश्नों की चर्चा करता है। अत: समाज-दर्शन समाज या सामाजिक जीवन का दार्शनिक एवं तात्विक अध्ययन करता है। समाज-दर्शन परिवर्तनशील मानव-समाज के अर्थ, उद्देश्य एवं मूल्य का अध्ययन करता है। यह सामाजिक मूल्यों का दर्शन है, अत: यह आदर्शमूलक विज्ञान है।

मैकेंजी के शब्दों में, "Social philosophy in particular, concentrates its attention on the social unity of mankind and seeks to interpret the significance of the special aspects of human life with reference to that unity. It, thus means mainly the effort to study values, ends, ideals not primarily what exists or may be expected to exist, but rather the meaning and worth of these modes of existence."

इस प्रकार, समाज-दर्शन सामाजिक तथ्यों के वर्णन से संबंध नहीं रखता है, अपितु उन तथ्यों की सार्थकता तथा प्रमाणिकता के चिन्तन से संबंध रखता है। इसका मुख्य कार्य है सामाजिक तथ्यों के प्रकाश में सामाजिक मूल्यों का परीक्षण करना। इस परीक्षण के फलस्वरूप समाज-दर्शन सामाजिक शुभ का सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करता है। समाज-दर्शन समाज-विज्ञानों द्वारा प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है, उनमें एकता लाने का प्रयास करता है।

समाजशास्त्र की परिभाषा - वैज्ञानिक शास्त्रों में ज्ञान के एक सुव्यवस्थित अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र का विकास बहुत बाद में हुआ। समाजशास्त्र की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख तो हर काल के विद्वानों ने की है। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही समाजशास्त्र की समस्याओं को एक सुव्यवस्थित विज्ञान के रूप में ढाला गया। समाजशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं।

Ginsberg, Ward, Odion, Gidding आदि के अनुसार समाज-शास्त्र समाज का विज्ञान है।

MacIver, Page, तथा Max Weber के अनुसार समाज-शास्त्र सामाजिक संबंधों का अध्ययन है।

Young, Bennet, Tumin, Solvoleing तथा Green इसे सामाजिक जीवन एवं पहलुओं का अध्ययन मानते हैं।

मैकेंजी के शब्दों में, "Sociology besides, being open to some linguistic objection, is a somewhat vague term and may be regarded as covering a very comprehensive field. It includes an inquiry into the origins of human communities, the study of thus various forms, laws, customs, institutions, languages, beliefs, ways of thinking, feeling and acting."

गिडिंग्स ने लिखा है कि ''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।''

वार्ड के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।''

संक्षेप में मानव के जीवन से संबंधित सम्पूर्ण ज्ञान समाजशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्म, शिक्षा, नैतिकता से संबंधित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र एक व्यापक शास्त्र है। यह मानव जीवन के हर पहलू का अध्ययन करता है। इसमें मानव-समाज की उत्पत्ति विकास तथा उसके विभिन्न रूपों, परिचलनों, संस्थाओं तथा भाषाओं का अध्ययन होता है।

Park, Simmel, Burgess, Tonnies, Stamler, Kant के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों एवं कर्त्तव्यों के आकार (form) का अध्ययन करता है।

Sunmel के अनुसार, "Sociology is the science of the form of human inter-relations." कुछ अन्य समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज सभी विज्ञानों का विज्ञान है। यह सभी समाज विज्ञानों का समन्वय करता है।

K. Motwani के शब्दों में, "Sociology thus seeks to see life full and see it whole."

### 2.3.2 उपविषय : समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र का स्वरूप

इस प्रकार, समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र दोनों ही का संबंध मानव समाज से है। समाज-दर्शन अध्ययन करता है :-

(i) सामाजिक जीवन के आदर्शों, मूल्यों तथा लक्ष्यों का।

(ii) विभिन्न समाज-विज्ञानों की मान्यताओं, निष्कर्षों आदि का।

समाज-दर्शन घटनाओं को उनकी सम्पूर्णता में व्याख्या करता है तथा उनका मूल्यांकन आचारशास्त्र एवं गहनतम मूल्यों के आधार पर करता है। समाज-दर्शन आदर्शमूलक विज्ञान है। यह समाज की आदर्श एकता की कल्पना करता है और इसी सामाजिक एकता के अनुसार मानव-जीवन के विशेष रूपों की सार्थकता की व्याख्या करता है।

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। यह मानव-जीवन के हर पहलू का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की विभिन्न शाखाएँ मानव-जीवन के अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करती हैं। प्रत्येक शाखा में अनुभव के आधार पर तथ्यों को इकट्ठा कर उनका विश्लेषण करते हैं।

### 2.3.3 समाज : दर्शन तथा समाजशास्त्र में संबंध

समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र की परिभाषा, क्षेत्र एवं स्वरूप के अध्ययन के पश्चात् अब हम इन दोनों के संबंध पर विचार करेंगे।

समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र दोनों ही का संबंध मानव-समाज से है। समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है जो सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की अनेक शाखाएँ हैं जो मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित हैं। समाजशास्त्र की सभी शाखाएँ अनुभव के आधार पर तथ्यों को एकत्रित करती हैं तथा उनका विश्लेषण करती हैं। इस प्रकार, समाजशास्त्र विश्लेषणात्मक और एक यथार्थ विज्ञान है। समाज-दर्शन भी मानव-समाज का ही अध्ययन करता है, किन्तु एक आदर्शमूलक विज्ञान होने के कारण समाज-दर्शन परिवर्तनशील मानव समाज के अर्थ, लक्ष्य एवं मूल्य का अध्ययन करता है। जहाँ समाजशास्त्र तथ्यात्मक है, वहीं समाज-दर्शन समीक्षात्मक तथा मूल्यात्मक है। एक यथार्थ विज्ञान है तो दूसरा समीक्षात्मक तथा आदर्श निर्देशक है। समाजशास्त्र तथ्यों का विश्लेषण करता है और समाज-दर्शन सामाजिक सिद्धान्तों के समन्वय तथा सामाजिक शुभ का एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार, समाज-दर्शन एवं समाजशास्त्र दोनों एक ही समस्या का विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं तथा दोनों के अध्ययन की विधि भी अलग है।

**समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र में भेद :**

समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र में ये मौलिक भिन्नताएँ हैं-

(1) समाजशास्त्र तथा समाज-दर्शन के अध्ययन के विषय अलग हैं। जहाँ समाज-दर्शन मानवीय मूल्यों का अध्ययन करता है वहीं समाजशास्त्र सामाजिक संबंधों, सामाजिक प्रक्रियायों एवं सामाजिक घटनाओं का परीक्षण करता है। अगर समाजशास्त्र सामाजिक मूल्यों का अध्ययन भी करता है, तो उन्हें मात्र तथ्य समझकर करता है।

(2) समाजशास्त्र का दृष्टिकोण अथ्यात्मक है किन्तु समाज-दर्शन समीक्षात्मक तथा आदर्श निर्देशक है। जहाँ समाजशास्त्र एक यथार्थ विज्ञान है जो तथ्यों का विश्लेषण करता है, वहीं समाज-दर्शन समीक्षात्मक तथा आदर्श निर्देशक है। समाज-दर्शन में सामाजिक सिद्धान्तों का समन्वय किया जाता है।

(3) इस प्रकार, समाजशास्त्र एवं समाज-दर्शन की पद्धति में भी अन्तर है। जहाँ समाजशास्त्र की पद्धति वैज्ञानिक है वहीं समाज-दर्शन की पद्धति दार्शनिक है। समाज-दर्शन संयोगात्मक है। वह प्रत्येक घटना को सम्पूर्ण का एक हिस्सा मानता है और विज्ञान के निष्कर्षों को एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा करता है। इस प्रकार समाजदर्शन

वर्णनात्मक नहीं वरन् समीक्षात्मक है। समाज-दर्शन समाज-शास्त्र की अवधारणाओं तथा उसकी आवश्यक मान्यताओं की समीक्षा करता है। अतः जहाँ समाजशास्त्र विश्लेषणात्मक है, वहीं समाज-दर्शन संयोगात्मक है।

(4) समाजदर्शन मूल्यात्मक एवं समीक्षात्मक है जबकि समाजशास्त्र तथ्यात्मक है।

(5) समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का सृजनात्मक एवं सकारात्मक पक्ष पर बल देता है। इसके विपरीत समाज-दर्शन सामाजिक प्रक्रियाओं के अर्थ एवं लक्ष्य की खोज करता है। समाजशास्त्र समस्याओं का अध्ययन करता है जबकि समाज-दर्शन विश्व में मानव-समाज के स्थान का निर्धारण करता है। समाजशास्त्र तथ्यों एवं विधियों पर अधिक महत्व देता है, जबकि समाजदर्शन मूल्यों पर।

(6) प्रत्येक विज्ञान की कुछ आवश्यक मान्यताएँ होती हैं। समाजदर्शन समाजशास्त्र की धारणाओं एवं मान्यताओं का मूल्यांकन करता है।

(7) समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के लिए प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग करता है जबकि समाज-दर्शन मूल्यात्मक विधि का प्रयोग करते हुए सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करता है।

(8) जहाँ समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के तथ्यों का वर्णन करता है, समाज-दर्शन उन तथ्यों की सार्थकता तथा प्रामाणिकता की विवेचना करता है। समाजदर्शन सामाजिक प्रक्रियाओं के प्रयोजनात्मक एवं समीक्षात्मक पक्ष पर बल देता है। समाज-दर्शन सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संबंधों के आदर्शों, मूल्यों तथा लक्ष्यों से विशेष रूप से संबंधित हैं।

### 2.3.4 उपविषय : निष्कर्ष

जैसा कि ऊपर वर्णन किया है समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र में कई समानताएँ एवं भिन्नताएँ हैं। यद्यपि समाजशास्त्र एवं समाज-दर्शन में बहुत सारे भेद हैं, फिर भी दोनों में निकट संबंध है। प्रारंभिक समाज विचारकों का समाज दर्शन समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में विकसित होने में सहायक सिद्ध हुआ। समाजशास्त्र के सही निष्कर्षों की दार्शनिक महत्ता भी है। एक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की प्रगति समाज-दर्शन को समाज के दार्शनिक स्वरूप की प्रस्तुति करने में सहायक सिद्ध हुआ। इसी कारण से कहा गया है, "That is the reason why most of the sociologists are also social philosophers in the advanced stages of their thought and theoretical development."

## 2.4 सारांश

अतः यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एवं समाज-दर्शन में आपसी संबंध है। समाजशास्त्र और समाज-दर्शन परस्पर विरोधी नहीं हैं, एक दूसरे के पूरक हैं। समाज-दर्शन समाजशास्त्र की अवधारणाओं तथा उसकी आवश्यक मान्यताओं की समीक्षा करता है। तथ्य और आदर्श दोनों आवश्यक हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। बिना आदर्श के तथ्य का कोई मूल्य नहीं होता और बिना तथ्य के आदर्श कोरी कल्पना है। इस प्रकार, समाजदर्शन एवं समाजशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्र मानव-जीवन के चरम लक्ष्य का निर्धारण नहीं करता है, यह सब समाज-दर्शन से लेता है और समाज दर्शन तथ्यों के लिए समाजशास्त्र पर निर्भर करता है।

समाजशास्त्र के अभाव में समाज-दर्शन और समाज दर्शन के अभाव में समाजशास्त्र अधूरा रह जाएगा।

जैसा कि F. J. Wright ने कहा है, "Sociology is applied social science, social philosophy is the consideration of right and wrong of such application. Thus, both the social philosophy and the sociologist have to cooperate while being aware of their own limitations."

इस प्रकार, हमने देखा कि यद्यपि समाजशास्त्र और समाजदर्शन में अन्तर है, फिर भी दोनों में घनिष्ठतम सम्बन्ध है और एक दूसरे के पूरक हैं।

## 2.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

समाजशास्त्र, समाजदर्शन, बौद्धिक, समीक्षात्मक, समाज, सामाजिक संबंधों, सामाजिक आदर्शों, मूल्यों, सुव्यवस्थित, सामाजिक जीवन, आदर्शमूलक विज्ञान, सम्पूर्णता, तथ्य, सत्य, समीक्षात्मक, यथार्थ विज्ञान, सामाजिक प्रक्रिया, समन्वय, विश्लेषणात्मक, संयोगात्मक, मूल्यांकन, सृजनात्मक, सकारात्मक, मूल्यांकन, प्रयोजनात्मक।

## 2.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 2.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. समाजशास्त्र है-

(क) एक तथ्यात्मक विज्ञान

(ख) एक तथ्यात्मक और विश्लेषणात्मक विज्ञान

(ग) एक समीक्षात्मक तथा आदर्शमूलक विज्ञान

(घ) ऊपर में कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

2. समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र दोनों-

(क) एक समाज है

(ख) एक दूसरे से भिन्न हैं

(ग) एक दूसरे के पूरक हैं

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

### 2.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर उपविषय संख्या में)

1. समाजदर्शन तथा समाजशास्त्र की परिभाषा दें।

(उत्तर उपविषय 2.3.1)

2. समाजशास्त्र तथा समाजदर्शन के बीच जो भेद है, उसकी व्याख्या करें।

### 2.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र के संबंध की व्याख्या करें।

2. समाज-दर्शन तथा समाजशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। टिप्पणी करें।

## 2.7 प्रस्तावित पाठ

(क) समाजशास्त्र के सिद्धान्त - G. K. Agarwal

(ख) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन - Ashok Kumar Verma

(ग) An Introduction to Sociology – Vidya Bhushan & D. R. Sachdeva

❖❖❖❖

# नागरिक कर्त्तव्य

पाठ संरचना


3.1 उद्देश्य

3.2 विषय-प्रवेश

3.3 मुख्य विषय - नागरिक कर्त्तव्य की प्रकृति की व्याख्या तथा अधिकारों के साथ इनका संबंध

- 3.3.1 उपविषय - नागरिक कत्तव्य की परिभाषा
- 3.3.2 उपविषय - नागरिक कर्त्तव्य के प्रकार
- 3.3.3 उपविषय - नागरिक कत्तव्य के पालन में बाधाएँ
- 3.3.4 उपविषय - निष्कर्ष

3.4 सारांश

3.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

3.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 3.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 3.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 3.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

3.7 प्रस्तावित पाठ


## 3.1 उद्देश्य

'नागरिक कर्त्तव्य' की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह कि हमें इस बात की स्पष्ट जानकारी हो जाए कि नागरिक कर्त्तव्य है क्या और कौन से कर्त्तव्य नागरिक कर्त्तव्य कहलाते हैं। हम सभी किसी राज्य के नागरिक हैं। किसी भी राज्य का लक्ष्य अथवा उद्देश्य नागरिकों का कल्याण (Welfare of the Citizens) करना है। इस प्रकार, राज्य का उसके नागरिकों के प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाता है तथा नागरिकों का भी राज्य के प्रति अपने प्रति, दूसरों के प्रति भी कर्त्तव्य हो जाता है। नागरिकों के विभिन्न कर्त्तव्यों को हम नागरिक कर्त्तव्य कहते हैं।

इस पाठ में सर्वप्रथम हम 'नागरिक कर्त्तव्य' के अर्थ का विश्लेषण करेंगे। फिर हम कर्त्तव्य तथा अधिकार के संबंधों की जाँच करेंगे। इसके पश्चात् हम विभिन्न प्रकार के नागरिक कर्त्तव्यों का उल्लेख करेंगे। कर्त्तव्य पालन में जो बाधाएँ उत्पन्न होती हैं उसकी भी हम चर्चा करेंगे। अंत में हम निष्कर्ष बताएंगे। फिर, इस पाठ का सारांश दिया जाएगा तथा अभ्यास के लिए कुछ वस्तुनिष्ठ, लघु उत्तरीय, दीर्घ उत्तरीय प्रश्न दिए जायेंगे।

## 3.2 विषय-प्रवेश

नागरिक कर्त्तव्य का अर्थ है नगर में रहनेवाले व्यक्तियों का कर्त्तव्य। किसी राज्य के अंदर रहनेवाले सभी व्यक्ति जो उसके सदस्य हैं, नागरिक कहलाते हैं। किसी भी राज्य का लक्ष्य नागरिकों का कल्याण करना है। इस प्रकार, राज्य का उसके नागरिकों के प्रति कुछ कर्त्तव्य हो जाता है। राज्य के ये कर्त्तव्य नागरिकों के अधिकार हो जाते हैं। इन्हें ही हम ''नागरिक अधिकार'' (Civic Rights) कहते हैं।

हम यह भी जानते हैं कि अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलते हैं। दूसरे शब्दों में, अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं। दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित है जो हमारा अधिकार है, उसी के अनुरुप दूसरों की हमसे माँगे होती हैं अर्थात् हमारा कर्त्तव्य है। अत: यदि नागरिक होने के नाते हमारा कुछ अधिकार है तो उसी नाते हमारा कुछ कर्त्तव्य भी है। इन्हीं कर्त्तव्यों को ''नागरिक कर्त्तव्य'' भी कहा जाता है।

इस प्रकार, किसी देश के नागरिक होने के कारण जिन कर्त्तव्यों का हमें पालन करना चाहिए, उन्हें ही नागरिक कर्त्तव्य (Civic Duties) कहा जाता है।

## 3.3 मुख्य विषय : नागरिक कर्त्तव्य की प्रकृति की व्याख्या तथा उनका अधिकारों के साथ संबंध है

नागरिक होने के नाते हमें अगर कुछ अधिकार मिले हैं तो हमारे कुछ कर्त्तव्य भी हैं जिन्हें हमें करना है। इन्हें नागरिक कर्त्तव्य कहते हैं। किसी देश के नागरिक होने के कारण जिन कर्त्तव्यों के लिए हम बाध्य हैं, वे ही नागरिक कर्त्तव्य (Civic Duties) हैं। नागरिक कर्त्तव्य और व्यक्ति के अन्य कर्त्तव्यों में कोई विरोध नहीं है। नागरिक कर्त्तव्य के लिए कोई विशेष क्षेत्र नहीं है और न कोई विशेष समय। सम्पूर्ण मानव-जीवन कर्त्तव्यमय है। व्यक्ति समाज या राज्य से पृथक् कोई इकाई नहीं है। इसलिए नागरिक कर्त्तव्य के क्षेत्र के बाहर उसके किसी कर्त्तव्य का विचार नहीं किया जा सकाता है। नागरिक कर्त्तव्य की विशेषता यह है कि इसमें कर्त्तव्य का ज्ञान और कर्त्तव्यनिष्ठ होना आवश्यक है।

कहा जाता है कि जिस प्रकार व्यक्ति अपने अधिकारों का भोग करता है, उसी प्रकार उसे अपने कर्त्तव्यों का भी पालन करना चाहिए। अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलते हैं। दोनो सापेक्ष हैं। एक-दूसरे पर आश्रित हैं। डा० बेनी प्रसाद ने अधिकार तथा कर्त्तव्य की सापेक्षता को स्वीकार करते हुए कहा है, "Right and duties, are interdependent. If one looks at them from the standard of others, they are duties. Both are social and both are, in substance, conditions of right living to be secured to all members of society. It is futile to consider whether rights are prior to duties or vice-versa. They are counter parts of each other. If one insisted on his right himself, but denied his duties towards others, there would soon be no right left for others."

इस प्रकार, कर्त्तव्यों की भी उतनी ही महत्ता है जितनी कि अधिकारों की। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकारों की पूर्ण जानकारी होती है, उसी प्रकार उसे अपने कर्त्तव्यों के बारे में भी जान लेना आवश्यक है। यदि देश का प्रत्येक नागरिक निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है, तो समाज और देश की प्रगति निश्चित है। उसे अपने अधिकारों का भी प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि वह समाज के लिए उपयोगी सिद्ध हो तथा सामान्य हित की अवहेलना न की जाए।

### 3.3.1 उपविषय : नागरिक कर्त्तव्य की परिभाषा

''नागरिक कर्त्तव्य'' दो शब्दों के मेल से बना है- नागरिक एवं कर्त्तव्य। 'नागरिक' शब्द का अर्थ है नगर का रहनेवाला। कर्त्तव्य का अर्थ है वह जिसे हमें करना चाहिए। किसी राज्य के अन्दर रहनेवाले सभी व्यक्ति, जो उसके

सदस्य हैं, नागरिक कहे जाते हैं। किसी राज्य या देश के नागरिक होने के कारण जिन कर्त्तव्यों के लिए हम बाध्य हैं, वे ही नागरिक कर्त्तव्य हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति किसी देश का नागरिक है अत: नागरिक कर्त्तव्य सभी के लिए बाध्य हैं।

जैसा कि पहले भी उल्लेख किया गया है नागरिक कर्त्तव्य और अन्य कर्त्तव्यों में कोई भेद नहीं है। नागरिक कर्त्तव्य के लिए न तो कोई विशेष क्षेत्र है न कोई विशेष समय। चूँकि व्यक्ति समाज या राज्य से अलग नहीं है, अत: नागरिक कर्त्तव्य के क्षेत्र के बाहर उसका कोई कर्त्तव्य नहीं होता है।

प्रत्येक नागरिक को अपने कर्त्तव्यों का पालन उसी तरह करना चाहिए जिस तरह वह अपने अधिकारों को भोगता है। हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ रहते हैं जो हमारा अधिकार है, उसी के अनुकूल दूसरों की हमसे माँगें होती हैं अर्थात् हमारा कर्त्तव्य होता है। जितना अधिक अधिकार हम भोगते हैं, उतना ही अधिक कर्त्तव्यों का पालन हमें करना पड़ता है। मुझे राज्य, समाज तथा दूसरे व्यक्तियों की ओर से अधिकार मिले हैं, अत: इन सबके प्रति हमारा कर्त्तव्य अथवा दायित्व भी होता है।

इस संबंध में L. T. Hobhause का कहना है, "Rights and duties, then, are conditions of social welfare, or as we define such welfare, of a life of harmony to this welfare, every member of the community stands in a double relation. He has its share in it. This is the sum of his rights. He has to contribute his share. That is the sum of his duty."

"Right without duties are like men without shadows. They exist only in fairy tales."

इस प्रकार, व्यक्ति का अधिकार इस बात की ओर भी संकेत करता है कि उसके कुछ कर्त्तव्य हैं जिन्हें उसे करना है। अधिकार का यह मतलब नहीं कि व्यक्ति मनमानी करे। अधिकार का अर्थ है- नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति। व्यक्ति इस लक्ष्य से अधिकार एवं कर्त्तव्यों का प्रयोग करें।

नागरिक कर्त्तव्य की विशेषता यह है कि इसमें कर्त्तव्य का ज्ञान और कर्त्तव्यनिष्ठ होना आवश्यक है।

### 3.3.2 उपविषय : नागरिक कर्त्तव्य के प्रकार

नागरिक कर्त्तव्य कई प्रकार के होते हैं-

**(क) अपने प्रति कर्त्तव्य** - किसी भी देश की उन्नति उसके नागरिकों के विकास पर निर्भर करता है। अत: प्रत्येक नागरिक का सबसे पहले अपने प्रति कर्त्तव्य होता है। व्यक्ति को सबसे पहले अपने स्वास्थ्य के प्रति ध्यान देना चाहिए। नागरिक का सबसे पहला कर्त्तव्य है अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखना तथा शारीरिक बल की ओर ध्यान देना। जबतक लोगों का स्वास्थ्य सही नहीं होगा तब तक वे देश की उन्नति में सहायक सिद्ध नहीं होंगे। स्वास्थ्य ही धन है। नैतिक बल के लिए शारीरिक बल का होना आवश्यक है। स्वस्थ शरीर में मस्तिष्क भी अच्छी तरह कार्य करता है। फिर नैतिक बल के लिए भी शारीरिक बल आवश्यक है। अत: शारीरिक बल की ओर ध्यान देना आवश्यक है। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। धन को सदा अच्छे जीवन का साधन विचारना चाहिए, स्वयं साध्य या लक्ष्य नहीं। धनोपार्जन आवश्यक कर्त्तव्यों में है। अपने सौंदर्य सम्बन्धी ज्ञान की भी वृद्धि करना अपना कर्त्तव्य है, वह है- (i) शारीरिक, (ii) आर्थिक, (iii) बौद्धिक, (iv) सौंदर्य सम्बन्धी और (v) नैतिक।

**(ख) परिवार के प्रति कर्त्तव्य** - इसके बाद प्रत्येक व्यक्ति का कुछ कर्त्तव्य उसके परिवार की ओर भी है। यदि वह विवाहित है, तो उसे अपनी पत्नी तथा बच्चों की देखभाल करनी है। उसे अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा देनी है। उसे अपने बच्चों को देश का आदर्श नागरिक बनाना है जिस पर सम्पूर्ण देश गर्व करें। वह व्यक्ति एक गुनहगार है, दोषी है जो केवल बच्चे पैदा करना जानता है किन्तु उनकी अच्छी देखभाल करता नहीं है। समाज का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे व्यक्तियों को नीचा दिखाए एवं उनका बहिष्कार करें।

**(ग) पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्य** - प्रत्येक व्यक्ति का उनके पड़ोसियों के प्रति भी कर्त्तव्य है। उसे अपने पड़ोसियों के प्रति घृणा या द्वेष का भाव नहीं रखना है वरन् उन्हें प्यार करना है। उसे अपने पड़ोसियों के सुख-दुःख का साथी बनना है। उसका पड़ोसियों के साथ अच्छा सम्बन्ध उसके जीवन में खुशियाँ ला सकता है।

**(घ) राज्य तथा समाज के प्रति कर्त्तव्य** - एक अच्छे नागरिक को केवल अपनी उन्नति से ही संतुष्ट नहीं रहना है न ही केवल अपने परिवार या निकट पड़ोसियों के विकास से संतुष्ट रहना है उसे उस पूरे मुहल्ले की उन्नति एवं विकास के लिए प्रयत्न करना है जिसमें वह रहता है। उसे अपने राज्य तथा राज्य में रहनेवाले लोगों को भी प्यार करना है।

इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का उस राज्य के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य होता है जिसमें उसका जन्म होता है तथा जिसमें वह पलता तथा बड़ा होता है। उसे अपने राज्य के प्रति वफादार होना है तथा राज्य के प्रति श्रद्धा का भाव रखना है। यह सही है कि व्यक्ति का अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति तथा अपने पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्य सर्वोपरि है। मन, वचन और कर्म से समाज और राज्य की उन्नति के प्रति प्रयत्नशील रहना हमारा कर्त्तव्य है।

**(ङ) देश के प्रति कर्त्तव्य** - देश-प्रेम और देश को सुखी और सम्पन्न बनाना देश और राज्य के प्रति कर्त्तव्य है। सुखी और सम्पन्न देश में ही व्यक्ति अपने शुभ की सिद्धि कर सकता है। अतः राज्य के उचित आदेशों का पालन देश की रक्षा और व्यवस्था को कायम रखना हमारा कर्त्तव्य है। यदि राज्य अन्याय और शोषण पर आधारित हो तो उसके विरुद्ध क्रांति भी हमारा कर्त्तव्य है। इस प्रकार, प्रत्येक व्यक्ति का उसके देश के प्रति कर्त्तव्य होता है।

फिर, प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश के कानून को माने तथा उसका पालन करे। इस प्रकार, सबों को देश के कानून को मानने की आदत बनानी है। देश के नियमों की रक्षा के लिए सतत प्रयत्नशील रहना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे उन नियमों की समीक्षा का कोई अधिकार नहीं है जो अन्याय और शोषण पर आधारित हो। भारत में देश की संप्रभुता लोगों के हाथ में है और उन्हें देश के कानून के परिवर्तन की माँग करने का पूरा अधिकार है। किन्तु, जब तक कोई नियम संविधान के द्वारा मान्य है तब तक व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे उसका पालन करें।

प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी योग्यता अनुसार राज्य के कर का भुगतान कर सके। प्रजातांत्रिक शासन-प्रणाली बहुत ही खर्चीली शासन-प्रणाली है। अतः यदि सभी लोग ईमानदारी से करों (Tax) का भुगतान नहीं करेगें तो देश को चलाना कठिन हो जाएगा। अतः यदि लोग अपनी सरकार चाहते हैं तो उन्हें अधिक करों का भुगतान करना होगा।

प्रत्येक अच्छे नागरिक को Public-spirited होना चाहिए तथा सार्वजनिक हित की बात सोचनी चाहिए। उसे अपनी योग्यता अनुसार देश के लोगों की सेवा के लिए तत्पर रहना चाहिए। सभी जीवों के प्रति सहानुभूति, उनके प्रति अक्रूरता तथा उनके प्राणों की रक्षा हमारा अन्य जीवों के प्रति कर्त्तव्य हो जाता है।

**(च) वोट देने का कर्त्तव्य** - प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह वोट देने के अधिकार (Right to vote) का उचित प्रयोग करें। उसे उन्हीं व्यक्तियों को चुनना है जो सामाजिक हित का काम करें। हमें हमेशा याद रखना चाहिए कि प्रजातंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सभी लोगों अपने चुनाव के अधिकार का उचित प्रयोग करें। जब तक देश के लोग जागरूक तथा सतर्क न होंगे तबतक प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता है। यदि लोग अपने चुनाव अधिकार का सावधानी से प्रयोग करें और उचित एवं योग्य व्यक्तियों को सत्ता में लाएं तो यह देश एवं देशवासियों दोनों के पक्ष में लाभदायक होगा।

**(छ) अफसरों को सहयोग देने का कर्त्तव्य** - एक अच्छा नागरिक हमेशा सरकारी अफसरों को अपना कार्य सम्पन्न करने में सहायक होता है। भारत में Code of Criminal Procedure में कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सरकारी अफसरों को उन सभी बातों की खबर दे जो देश तथा लोगों के हित में न हो। यदि लोग पुलिस की मदद न करें तो किसी भी मुजरिम को पकड़ना बहुत कठिन हो जाएगा।

**(ज) अन्याय का विरोध करने का कर्त्तव्य** - प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी भी प्रकार का अन्याय नहीं सहे। राज्य तथा व्यक्ति द्वारा किए गए अन्याय के विरुद्ध क्रांति करना हमारा कर्त्तव्य है। तभी हम एक अच्छी शासन-व्यवस्था कायम कर सकते हैं।

**(झ) सहिष्णुता का भाव रखने का कर्त्तव्य** - प्रतयेक व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य है कि वह एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखें। उन्हें न केवल उन्हीं लोगों को प्यार करना है जो उनसे सहमत हैं बल्कि उन लोगों को भी प्यार करना है जिनसे उनकी असहमति हैं। जब तक हम दूसरों के विचारों को सहने की आदत नहीं डालेंगे तब तक हम देश में उन्नति नहीं ला सकते हैं।

**(ञ) मेहनती होने का कर्त्तव्य** - प्रत्येक नागरिक का देश के प्रति यह भी कर्त्तव्य है कि वह मेहनती हो। आलसी लोगों का बहिष्कार करना है। यह सही कहा गया है कि जो काम नहीं करते उन्हें खाने का भी कोई अधिकार नहीं है।

**(ट) स्थानीय संस्थाओं के प्रति कर्त्तव्य** - प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य है कि वह स्थानीय संस्थाओं को उनके कार्य सम्पन्न करने में सहायता दें। यद्यपि ऐसा करने में समय तथा धन का व्यय होता है तो भी व्यक्ति को प्रसन्नतापूर्वक इन सभी कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। लोगों को यह भी भूलना नहीं है कि प्रजातंत्र की सफलता स्थानीय संस्थाओं की सफलता पर आश्रित है।

**(ठ) धर्म के प्रति कर्त्तव्य** - प्रत्येक व्यक्ति का यह भी कर्त्तव्य है कि धार्मिक सहिष्णुता का भाव रखे। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक विश्वास का अधिकार है। इसलिए दूसरे को धर्म सम्बन्धी विश्वासों में हस्तक्षेप नहीं करना और सहिष्णुता संबंधी हमारे कर्त्तव्य हैं।

इस प्रकार, ऊपर वर्णित नागरिक कर्त्तव्यों का पालन प्रत्येक नागरिक को करना है। कभी-कभी कर्त्तव्यों के पालन में बाधाएँ आती हैं जिनकी चर्चा भी हम करेंगे।

### 3.3.3 उपविषय : कर्त्तव्य पालन में बाधाएँ

कर्त्तव्यों के पालन में दो प्रकार की बाधाएँ आती हैं-

(i) अज्ञान,

(ii) कर्त्तव्यों का विरोध।

कर्त्तव्य नहीं पालन करने का सबसे पहला कारण है कर्त्तव्यों के प्रति अज्ञानता। जिसे कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं है, वह उनका पालन नहीं कर सकता है। अज्ञान के कारण मनुष्य स्वार्थपरायण हो जाता है, सामाजिक जीवन से उदासीन रहता है, रूढ़ियों का उपासक होता हैं और इन्हीं कारणों से कर्त्तव्य के पालन में बाधा उपस्थित हो जाती है।

कर्त्तव्य नहीं पालन कर पाने का दूसरा कारण है कर्त्तव्यों में विरोध प्रतीत होना और वास्तविक कर्त्तव्य क्या है इसका संकेत नहीं मिल पाना। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि कर्त्तव्यों के बीच विरोध उत्पन्न हो जाता है और समझ में नहीं आता है कि किस कर्त्तव्य का पालन किया जाए और किसका परित्याग किया जाए। जैसे राज्य की सेवा अथवा राष्ट्र की सेवा। ऐसी दशा में कर्त्तव्य पालन में कठिनाई होती हैं।

### 3.3.4 उपविषय : निष्कर्ष

कर्त्तव्यों के पालन में जो बाधाएँ आती हैं, उनका वैसा कोई महत्त्व नहीं है। अज्ञान का विनाश ज्ञान से हो सकता है। कर्त्तव्यों में विरोध भी वास्तविक नहीं होता है। वास्तविक कर्त्तव्य एक है। अतः कर्त्तव्यनिष्ठाएँ भी उसी आधार पर होनी चाहिए। सच्ची नागरिकता इसी बात में है कि कर्त्तव्यनिष्ठाओं का क्रम-निश्चय समुचित रूप से किया जाए।

## 3.4 सारांश

इस प्रकार, हमने देखा कि नागरिक कर्त्तव्य राज्य में रहनेवाले नागरिकों का कर्त्तव्य होता है। जिस प्रकार, व्यक्ति स्वेच्छा से अपने अधिकारों का पालन करता है, उसी प्रकार उसे अपने कर्त्तव्यों का भी पालन करना चाहिए। अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ चलते हैं।

समाज में अधिकार और कर्त्तव्य को सापेक्ष माना गया है। समाज ही व्यक्ति को अधिकार भी देता है और समाज ही व्यक्ति पर कर्त्तव्यों को भी सौंपता है। अधिकार निरपेक्ष नहीं होते हैं। अधिकार इसी शर्त पर दिए जाते हैं ताकि व्यक्ति साथ-साथ उनके अनुरूप कर्त्तव्यों को भी निभा सके। अतः अधिकार और कर्त्तव्य एक ही नैतिक नियम के दो पक्ष हैं।

## 3.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

अधिकार, कर्त्तव्य, आश्रित, नागरिक, समाज, बाध्यता, कर्त्तव्यनिष्ठा, कल्याण, व्यक्ति, शारीरिक, मानसिक, शिक्षा, दोषी, पड़ोसी, वफादार, बहिष्कार, सर्वोपरि, संवैधानिक, खर्चीली, प्रजातांत्रिक, सार्वजनिक, अन्याय, सहिष्णुता, स्थानीय संस्थाओं, स्वार्थपरायण।

## 3.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 3.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. अधिकार और कर्त्तव्य-

(क) स्वतंत्र है

(ख) सापेक्ष हैं

(ग) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

2. नागरिक कर्त्तव्य-

(क) अपने प्रति कर्त्तव्य होता है

(ख) पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्य होता है

(ग) राष्ट्र एवं राज्य के प्रति कर्त्तव्य है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

उत्तर (घ)

### 3.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न (उत्तर उपविषय संख्या में)

1. नागरिक कर्त्तव्य क्या है ?

(उत्तर – उपविषय 3.3.1)

2. अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष है। विवेचना करें।

(उत्तर – उपविषय 3.3.2, 3.3.3, 3.3.4)

3. नागरिक कर्त्तव्य के पालन में उत्पन्न होने वाली बाधाओं की विवेचना करें।

(उत्तर – उपविषय - 3.3.3)

### 3.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नागरिक कर्त्तव्य क्या है ? विभिन्न नागरिक कर्त्तव्यों की व्याख्या करें।

2. सभी नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों का पालन क्यों करना चाहिए ?

## 3.7 प्रस्तावित पाठ


(1) Principles of Sociology – G. K. Agawal

(2) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

(ग) Outlines of Social Philosopy – J. S. Mackenzi


❖❖❖❖

# व्यक्ति एवं समाज

पाठ संरचना


4.1 उद्देश्य

4.2 विषय-प्रवेश

4.3 मुख्य विषय - व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

- 4.3.1 उपविषय - व्यक्ति और समाज के संबंध का महत्व
- 4.3.2 उपविषय - व्यक्ति एवं समाज के संबंध पर टिप्पणी महत्वपूर्ण सिद्धान्त एवं उनकी आलोचना
- 4.3.3 उपविषय - व्यक्ति एवं समाज का वास्तविक संबंध
- 4.3.4 उपविषय - निष्कर्ष

4.4 सारांश

4.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

4.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 4.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 4.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 4.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

4.7 प्रस्तावित पाठ


## 4.1 उद्देश्य

व्यक्ति एवं समाज का संबंध समाजशास्त्रियों एवं विचारकों के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या हैं जिसके समाधान के लिए कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। विभिन्न विचारकों ने व्यक्ति एवं समाज के विषय में जो विचार दिए हैं, उसी से हम यह निष्कर्ष निकालेंगे कि व्यक्ति एवं समाज़ के वास्तविक संबंध क्या हैं।

इसी उद्देश्य से हमने इस पाठ की संरचना की है। सर्वप्रथम हम व्यक्ति एवं समाज के संबंध की महत्ता पर विचार करेंगे और यह देखें कि विचारकों के अनुसार कौन महत्वपूर्ण है- व्यक्ति या समाज? तत्पश्चात् हम व्यक्ति एवं समाज को लेकर जो भिन्न-भिन्न सिद्धान्त दिए गए हैं उन्हें देखेंगे तथा उनकी आलोचना भी करेंगे। फिर हम, व्यक्ति एवं समाज के वास्तविक संबंध पर विचार करेंगे। अंत में हम निष्कर्ष पर आएंगे।

## 4.2 विषय-प्रवेश

जैसा कि हम जानते हैं समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना है (मेकीवर के अनुसार) गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, ''समाज ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो कुछ सम्बन्धों या व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित हैं तथा उन व्यक्तियों से भिन्न हैं जो इन संबंधों में नहीं बंधे हैं।'' इसी प्रकार गिडिंग्स ने बतलाया है कि समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है और व्यवहार का एक योग है, जिसमें सहयोग देनेवाले व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं।'' इस प्रकार हम देखते हैं कि गिन्सबर्ग, गिडिंग्स तथा मैकीवर आदि सभी समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज व्यक्तियों का एक सुव्यवस्थित समूह हैं जो आपस में कई कारणों से जैसे-परिवार, वर्ग, जाति, रीति-रिवाज आदि संस्थाओं के कारण संबंधित होते हैं।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यक्ति और समाज का बहुत ही निकट संबंध है। मनुष्य के बारे में कहा गया है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। अरस्तू के अनुसार, ''वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रहकर, अकेले रहता है, वह या तो ईश्वर है या पशु।'' इस प्रकार, समाज का होना मनुष्यों के लिए अत्यंत आवश्यक है। फिर मनुष्य का होना भी समाज के लिए उतना ही आवश्यक है। व्यक्ति के बिना समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा। व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है। व्यक्तियों का समाज पर गहरा प्रभाव होता है। इसी प्रकार, व्यक्ति समाज के लिए और समाज व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परन्तु, व्यक्ति और समाज में जो वास्तविक संबंध है वह तभी स्पष्ट होगा जब विचारकों के जो व्यक्ति और समाज के विषय में संबंध हैं, उनकी समीक्षा करेंगे।

## 4.3 मुख्य विषय - व्यक्ति एवं समाज के बीच का संबंध

व्यक्ति एवं समाज का सम्बन्ध समाजशास्त्रियों एवं विचारकों के लिए एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसके समाधान के लिए कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। प्राचीन काल से ही समाज-दार्शनिकों ने इस समस्या पर गहरा चिन्तन किया है। विचारकों के बीच व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर गहरा मतभेद है, किन्तु, सभी इस बात पर एकमत हैं कि इनका सम्बन्ध गहरा और निकट है।

समाज दार्शनिक इस बात को लेकर एकमत नहीं हैं कि व्यक्ति पहले आता है या समाज। कुछ विचारकों के अनुसार समाज व्यक्ति से पहले आता है, अतः यह अधिक महत्वपूर्ण है तथा कुछ अन्य विचारकों के अनुसार व्यक्ति समाज से पहले आता है, अतः व्यक्ति का अधिक महत्व है। जो यह मानते हैं कि समाज व्यक्ति से पहले आता है, उनका यह विचार है कि व्यक्ति आते और जाते हैं, मगर समाज सर्वदा के लिए रहता है। मगर अन्य दार्शनिकों के अनुसार व्यक्ति समाज से पहले आता है क्योंकि व्यक्ति से ही समाज का निर्माण होता है। अतः व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर गहरा मतभेद है जिसका समाधान हम इस पाठ में करेंगे। इतना तो स्पष्ट है कि समाज और व्यक्ति में घनिष्ठ संबंध है क्योंकि एक के अभाव में दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

### 4.3.1 उपविषय : व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धों की विशेषता

कुछ विचारकों के अनुसार समाज व्यक्ति से पहले आता है अतः यह अधिक महत्वपूर्ण है तथा कुछ अन्य विचारकों के अनुसार व्यक्ति समाज से पहले आता है, अतः व्यक्ति का अधिक महत्व है।

किन्तु, इस विवाद में प्रवेश करने से पहले हमें विभिन्न विचारकों के व्यक्ति एवं समाज के बारे में जो विचार है, उन्हें जान लेना आवश्यक है।

जैसा कि हम जानते हैं व्यक्ति समाज का निर्माण करता है। व्यक्ति के अभाव में समाज का कोई अस्तित्व ही नहीं रहेगा। व्यक्ति जहाँ समाज का निर्माण करता है, वहीं समाज पर उसका गहरा प्रभाव भी पड़ता है।

दूसरी ओर समाज व्यक्तियों का समूह है, समूह में रहनेवाले व्यक्तियों के आपस में जो सम्बन्ध हैं, उन सम्बन्धों का संगठित रूप है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का योग या ताना-बाना है। समाज से भी व्यक्तियों में सभ्यता या संस्कार आते हैं। एक बच्चे का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके सामाजिक वातावरण से ही बनता है। केवल पढ़ने की क्षमता उसकी अपनी होती है। समाज में ही उसके व्यक्तित्व का इस प्रकार विकास होता है कि वह एक मनुष्य कहलाने लायक बन जाता है।

अतः, यह स्पष्ट है कि व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। मगर हमें यह देखना है कि समाज दार्शनिकों का व्यक्ति एवं समाज के संबंधों के बारे में क्या विचार हैं? किस अर्थ में मानव को सामाजिक प्राणी कहा जाता है? क्या मानव के लिए समाज आवश्यक है अथवा क्या समाज का अस्तित्व मानव के अभाव में हो सकता है?

इन सभी प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें उन सभी सिद्धान्तों की चर्चा करनी होगी जो दार्शनिकों ने व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्ध के बारे में दिया है।

### 4.3.2 उपविषय : व्यक्ति एवं समाज के संबंध पर दिए गए महत्वपूर्ण सिद्धान्त एवं उनकी आलोचना

**(क) व्यष्टिवाद या यांत्रिक सिद्धान्त (Individualistic or Mechanistic Theory)**– इस सिद्धान्त के अनुसार समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक आत्म-निर्भर इकाई है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों ने सामान्य हित की रक्षा के लिए ही समाज का संगठन किया है। इस प्रकार, समाज व्यक्तियों का संगठन मात्र है। समाज एक प्राकृतिक संस्था नहीं वरन् कृत्रिम है। मनुष्य ने स्वतंत्र जन्म लिया है और वह स्वतंत्र रहना चाहता है। व्यक्तियों ने आपस में समझौता कर समाज की रचना की तथा समाज को कुछ अधिकार दिए जैसे सबल के विरूद्ध निर्बल की रक्षा। इस मत के अनुसार व्यक्तियों में आन्तरिक सहयोग की कोई भावना नहीं है, वरन् इनका संबंध बाह्य है। इस सिद्धान्त को ''सामाजिक समझौता सिद्धान्त'' (Social Contract Theory) भी कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं- हॉब्स, लॉक, रूसो आदि। सत्रहवीं शताब्दी में हॉब्स ने अपनी रचना "Leviathan" में कहा था, "Society was conceived to protect man from his irresponsible and animal as well as egoistic tendencies." Adam Smith के अनुसार, "Society is an artificial device created to foster a mutual economy." अठारहवीं शताब्दी में महान फ्रैंच दार्शनिक, रूसो ने कहा, ''व्यक्तियों ने एक समझौता किया और जान-बूझकर सोच समझकर समाज का संगठन किया। इस सिद्धान्त के अन्य समर्थक हैं जॉन लॉक (John Locks) और हॉब हाउस (Hobhouse).

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति में सभी स्वतंत्र एवं समान जन्म लेते हैं। व्यक्ति समाज से पहले आते हैं। व्यक्ति को समाज से बाहर भी कुछ अधिकार होते हैं। व्यक्तियों के आपसी समझौते से ही समाज का सृजन हुआ है। अतः समाज एक कृत्रिम संस्था है जो व्यक्ति पर उतना ही अधिकार लागू कर सकती है जितनी उसे दी गयी हैं। दूसरे शब्दों में, समाज व्यक्ति पर उतना ही नियंत्रण डाल सकता है जितना कि उसे अधिकार दिया गया है।

व्यष्टिवादी सिद्धान्त समाज को कृत्रिम विचारता है, प्राकृतिक नहीं। जिस प्रकार किसी मशीन के विभिन्न अंग बाह्य संबंधों में जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समाज रूपी मशीन में व्यक्ति बाह्य सम्बन्धों में जुड़े रहते हैं। इसी कारण व्यक्ति और समाज के इस सम्बन्ध को ''यान्त्रिक सिद्धान्त'' (Mechanistic Theory) कहा जाता है।

व्यष्टिवाद सिद्धान्त की आलोचना–

यह सिद्धान्त चूँकि सामाजिक समझौता के सिद्धान्त पर आधारित है, अतः इनमें वे सभी दोष हैं जो सामाजिक समझौते के सिद्धान्त में पाए जाते हैं। MacIver तथा अन्य आधुनिक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त को भ्रामक माना है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त का न तो ऐतिहासिक प्रमाण है और न मानव-शास्त्रीय प्रमाण है।

यह तर्क संगत भी नहीं है। इसकी यह धारणा कि व्यक्ति समाज के बिना भी रह सकता है, गलत है, क्योंकि समाज के बिना तो मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास हो ही नहीं सकता है। समाज तो व्यक्ति के स्वभाव में ही निहित है। मनुष्य समाज के अभाव में रह ही नहीं सकता है और जहाँ व्यक्तियों ने रहना प्रारंभ कर दिया वहीं समाज का अस्तित्व हो जाता है। MacIver ने भी लिखा है, "The question of society preceding the individual or vice-versa does not arise because both have been together from the very beginning."

इस प्रकार, व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं। व्यष्टिवाद का यह विचार कि मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी है, एकांगी है। मनुष्य में स्वार्थ और परार्थ दोनों ही तत्व हैं।

व्यष्टिवादी नियंत्रण और स्वतंत्रता को विरोधात्मक विचारते हैं- यह एक भूल है। नियंत्रण से स्वतंत्र का विरोध नहीं होता है। यदि सभी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता होगी और किसी भी प्रकार के नियंत्रण का पूर्ण अभाव होगा तो सामाजिक जीवन उच्छृंखल हो जाएगा और ''जिसकी लाठी उसकी भैंस का नियम'' समाज में लागू हो जाएगा। व्यक्ति के विकास के लिए स्वतंत्रता बहुत ही महत्वपूर्ण है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं हैं किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ स्वार्थ एवं उच्छृंखलता नहीं है।

इस प्रकार, व्यष्टिवाद या यांत्रिक सिद्धान्त कई दोषों से ग्रसित है।

**(ख) सर्वांगिक सिद्धान्त (Organic Theory)**– इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एक प्रकार का प्राण-शरीर या जीवन (Organism) है जिसकी बनावट एवं कार्य-प्रणाली उसी प्रकार की है जिस प्रकार मानव-शरीर की है। जिस प्रकार किसी प्राणी के शरीर में उनके भिन्न-भिन्न अवयव या अंग होते हैं, उसी प्रकार व्यक्ति समाज के विभिन्न अंग हैं। सामाजिक संस्थान और प्राणी शरीर में कोई अन्तर नहीं है। जैसा किसी जीवन में रक्त-कोशिकाएँ होती हैं, वैसे ही समाज में व्यक्ति होते है। जैसे शरीर के विभिन्न अंग हैं, वैसें ही समाज के व्यक्ति हैं। समाज प्राणी-शरीर (Diving Organism) है और व्यक्ति उसके अंग। Spencer के शब्दों में, "Social structure can be compared to an animal body whose system of nutrition has its counterpart in the society in the industrial and agricultural system, the circulatory system with the heart, arteries and vens correspond to the communication and transport system of nation, the nervous system of nation, the nervous system to the government and so on."

सर्वांगिक सिद्धान्त के अनुसार समाज व्यक्तियों का यांत्रिक योग नहीं है वरन् परस्पर निर्भर अंगों अथवा व्यक्तियों से बनी हुई इकाई है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एवं व्यक्तियों में बाह्य सम्बन्ध नहीं वरन् आंतरिक सम्बन्ध है। उनके बीच अवयवी सम्बन्ध है। व्यक्ति का समाज से स्वतंत्र अस्तित्व उसी प्रकार संभव नहीं है जिस प्रकार अंगों या अवयवों का प्राणी शरीर से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार प्रत्येक अंग का स्वास्थ्य सम्पूर्ण शरीर पर और सम्पूर्ण शरीर का अंगों पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार समाज का स्वास्थ्य व्यक्तियों को और व्यक्तियों का स्वास्थ्य समाज को प्रभावित करता है।

इस प्रकार, सर्वांगिक सिद्धान्त के अनुसार समाज कृत्रिम नहीं वरन् प्राकृतिक है। इस सिद्धान्त के समर्थक हैं अलबर्ट शैफले (Albert Shaffle), हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), प्रो० अलेक्जेण्डर (Prof. Alexander), और सर लैसली स्टीफेन (Sir haslic Stephen) इत्यादि दार्शनिकों एवं विकासवादियों ने की है।

इन सभी दार्शनिकों के अनुसार समाज एक प्राण-शरीर रूप और जिस प्रकार प्राणी-शरीर के प्रत्येक अंग परस्पर संबंधित होते हैं, उसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति परस्पर संबंधित है।

सर्वांगिक सिद्धान्त की आलोचना-

इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि यह समाज को पूर्णत: प्राणी-शरीर और उसकी कोशिकाओं के सदृश मानता है। हम इस अर्थ में समाज की तुलना प्राणी से कर सकते हैं कि जिस प्रकार शरीर के अंग परस्पर

सम्बन्धित हैं, उसी प्रकार समाज में व्यक्तियों में परस्पर निर्भरता होती है। इस प्रकार समाज की तुलना प्राणी-शरीर से की जा सकती है किन्तु उसे प्राणी शरीर ही नहीं माना जा सकता है। हर्बर्ट स्पेन्सर जो इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं, उनका भी कहना है कि शरीर एवं समाज में बहुत भेद है। व्यक्ति की भावना, संवेदना या उद्वेग, समाज की भावना या उद्वेग नहीं हो सकता है। समाज का कोई एक मस्तिष्क नहीं होता और न संवेदन ज्ञान के लिए ही समाज को कोई समान इन्द्रिय (Common Sensorium) ही है। व्यक्ति ही केवल सोच सकता है, उसे ही संवेदना हो सकती है, समाज न तो सोच सकता है, और न ही संवेदनाओं की अनुभूति ही कर सकता है।

सर्वांगिक सिद्धान्त में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक महत्व बताया गया है। व्यक्ति को समाज के आगे तुच्छ समझने की भूल प्लेटो के ''रिपब्लिक'' में भी है। समाज और व्यक्ति का समान महत्व है, अतः यह सिद्धान्त एकांगी है।

इस प्रकार, सर्वांगिक सिद्धान्त का प्रमुख दोष समाज को प्राणी शरीर या वनस्पति शरीर मानना है। प्राणी-शरीर या वनस्पति शरीर की एकता से कहीं अधिक घनिष्ठ है, व्यक्ति और समाज का संबंध। अतएव, इस सिद्धान्त में व्यक्ति एवं समाज का वास्तविक संबंध स्पष्ट नहीं किया गया है।

MacIver के शब्दों में, "The only experience we know is the experience of individual, and it is only in the light of their interests, their hope and their fears that we assign any function and any soal to society when we speak of the group interest we only mean the interest in the group which its members of any of them feel."

**(ग) चेतनवादी या समूह मन सिद्धान्त (Group Mind Theory or Idealistic Theory)**– इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एक मन है अथवा चेतन रूप है। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' में मानव-समाज की मानव-मस्तिष्क से तुलना की है और कहा है, "Civil society is a mind writ large."

इस सिद्धान्त के अनुसार समाज एक बृहत् मस्तिष्क है। यह केवल वैयक्ति मस्तिष्क का योग मात्र नहीं है वरन् समाज व्यक्तियों के मस्तिष्क से एक पृथक मस्तिष्क है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हैं- ग्रीन, ब्रैडले, बोसाक्बे, हेंगल, इमरसा, लेबौं, मैवदूगल, एस्पीनाज तथा दुर्खीम।

चेतनवादियों के सिद्धान्त की पूर्वछाया प्लेटो, अरस्तू आदि के विचारों में मिलती है। हेगेल आदि अन्य चेतनवादी विचारक सम्पूर्ण विश्व को एक परम चेतना की अभिव्यक्ति विचारते हैं। राज्य ही वस्तुनिष्ठ चेतना है। पृथ्वी पर परम चेतना की अभिव्यक्ति राज्य है।

लेबौं ने सर्वप्रथम समूह-मन की धारणा स्थापित की। उसके अनुसार समूह मन की विशिष्ट मन से पृथक अपनी विशेषता होती हैं। व्यक्ति की अपनी विशिष्टता होती है, पर समूह में उसकी विशिष्ट चेतना लुप्त हो जाती है और एक समूह-मन उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

मैक्डूगल भी समूह-मन की धारणा का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार समूह मन व्यक्तियों के मनों का योग-मात्र नहीं है। उनसे भिन्न इसकी अपनी विशेषता होती है। इसमें समाज की परम्परा, संस्कृति आदि रहते हैं।

एस्पीनाज तथा दुर्खीम ने समूह-मन के स्थान पर समूह-चेतना की धारणा स्थापित की है। उनके अनुसार जिस प्रकार व्यक्ति आत्मचेतन प्राणी है उसी प्रकार समाज भी चेतन है।

व्यक्तियों की चेतनाएँ सम्बद्ध होकर समूह चेतना का रूप ले लेती हैं।

चेतनावादी सिद्धान्त की आलोचना -

हालांकि इस विचार का कि समाज व्यक्तियों के मस्तिष्क या चेतना का संगठन है, खंडन नहीं किया जा सकता है, पर समाज को व्यक्ति से पृथक मस्तिष्क या चेतना रूप विचार कर लेना भ्रामक है।

हेगेल का विचार कि समाज परम चेतना की अभिव्यक्ति है तथा व्यक्तियों से पृथक उसका अस्तित्व है, अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं होता है।

मैक्डूगल की समूह-मन की धारणा अस्पष्ट है। प्रश्न यह उठता है कि अनेक व्यक्तियों के मस्तिष्क के समूह से समूह-मन की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? इन विचारकों ने मानसिक प्रक्रियाओं को मानसिक तत्व समझने की भूल की है।

मैकाइवर ने ठीक ही कहा है कि व्यक्तियों का या व्यक्तियों के मन या चेतना का योग सम्भव नहीं है। अत: समूह मन के विचारों को नकारा तो नहीं जा सकता है, किन्तु इसे संदेहात्मक अवश्यक माना जा सकता है।

### 4.3.3 उपविषय : व्यक्ति एवं समाज का वास्तविक सम्बन्ध

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध न ही यांत्रिक है, न सर्वांगिक और न ही चेतन रूप है। ये सभी सिद्धान्त जो व्यक्ति एवं समाज के संबंध को प्रस्तुत करते हैं, एकांगी हैं, क्योंकि इन्होंने या तो व्यक्ति पर अधिक महत्व दिया है या समाज पर। MacIver और Page के शब्दों में, "No one can really be an absolute individualist, any more than anyone can be an absolute individualist, for the individual and society interact on one another and depend on one another.

इस प्रकार, व्यक्ति और समाज में अन्योन्याश्रय संबंध (Relation of Interdependence) है। समाज व्यक्ति के स्वाभाव से ही उद्भूत है, अत: यह व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से जुड़ा है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज का आन्तरिक संबंध है।

### 4.3.4 उपविषय : निष्कर्ष

व्यक्ति और समाज दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं। दोनों का ही समान महत्व है। न व्यक्ति समाज से पृथक होकर रह सकता है और न ही व्यक्ति से पृथक समाज की कल्पना की जा सकती है। समाज एक आध्यात्मिक एकता है। व्यक्ति और समाज में आंतरिक संबंध है।

## 4.4 सारांश

अब तक जो हमने चर्चा की है उससे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्ति एवं समाज में निकट अथवा घनिष्ठ संबंध है। एक का अस्तित्व तथा विकास दूसरे के अस्तित्व तथा विकास पर निर्भर करता है।

विचारकों के अनुसार व्यक्ति एवं समाज का संबंध उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध सम्पूर्ण और अंश में रहता है। संपूर्ण और अंश में दो प्रकार का सम्बन्ध रहता है। प्रथम प्रकार का वह संबंध है जिसमें सम्पूर्ण अंश से पहले आता है और उन अंशों का निर्धारण करता है, जिनके द्वारा वह अपने को व्यक्त करता है। दूसरे प्रकार का सम्बन्ध यह है कि अंशों के संयोग से ही सम्पूर्ण की सृष्टि होती है। समाज और व्यक्ति में ऐसा सम्बन्ध है कि जिसमें सम्पूर्ण और अंश की प्राथमिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। न अंश सम्पूर्ण में विलीन होता है और न सम्पूर्ण अंशों के योग से बनता है। सम्पूर्ण अंशों में व्यक्त होता है।

इसी प्रकार का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज में है। समाज और व्यक्ति दोनों का समान महत्व है, न समाज अधिक महत्वपूर्ण है और न व्यक्ति। सामाजिक शुभ और व्यक्तिगत शुभ में कोई अन्तर नहीं है। समाज और व्यक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं।

## 4.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

व्यक्ति, समाज, सम्बन्ध, मतभेद, विवाद, प्रभाव, व्यष्टिवाद, यांत्रिक सिद्धान्त, आत्मनिर्भर इकाई, समझौता, कृत्रिम रचना, नियंत्रण, स्वतंत्रता, सर्वांगिक, प्राणी-शरीर, रक्त-कोशिकाएँ परस्पर निर्भर, घनिष्ठ, चेतनावादी, समूह-मन, अन्योन्याश्रय, आध्यात्मिक एकता।

## 4.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 4.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. समाज व्यक्ति से पहले आता है-

(क) असत्य

(ख) सत्य

(ग) न सत्य, न असत्य

**उत्तर - (क)**

2. व्यक्ति और समाज एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं-

(क) असत्य

(ख) सत्य

(ग) न सत्य और न असत्य

**उत्तर - (ख)**

### 4.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में व्यष्टिवादी अथवा यांत्रिक सिद्धान्त की व्याख्या करें।

(उत्तर उपविषय 4.3.2)

2. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की समीक्षात्मक व्याख्या सर्वांगेक की व्याख्या करें

(उत्तर उपविषय 4.3.2)

### 4.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. व्यक्ति और समाज के संबंध की समीक्षा करें।
2. व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आश्रित हैं ? टिप्पणी करें।

## 4.7 प्रस्तावित पाठ


(1) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

(2) समाजशास्त्र परिचय – डा० जी० के० अग्रवाल

(3) An Introduction to Sociology – Vidya Bhushan & Sachdeva.


❖❖❖❖

# परम्परा एवं आधुनिकता

पाठ संरचना


5.1 उद्देश्य

5.2 विषय-प्रवेश

5.3 मुख्य विषय - परम्परा एवं आधुनिकता का संबंध

- 5.3.1 उपविषय - परम्परा की अर्थ एवं परिभाषा
- 5.3.2 उपविषय - परम्पराओं का महत्व
- 5.3.3 उपविषय - आधुनिकता की अर्थ एवं परिभाषा
- 5.3.4 उपविषय - आधुनिकता के अभिलक्षण
- 5.3.5 उपविषय - परम्परा तथा आधुनिकता का संबंध
- 5.3.6 उपविषय - निष्कर्ष

5.4 सारांश

5.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

5.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 5.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 5.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 5.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

5.7 प्रस्तावित पाठ


## 5.1 उद्देश्य

'परम्परा और आधुनिकता' इन दोनों विचारों का समाज में रहनेवाले प्रत्येक प्राणी के व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अत: इन दोनों धारणाओं से भली-भांति परिचित होना आवश्यक है। इस पाठ की चर्चा के पीछे भी हमारा यही लक्ष्य है। इस पाठ के द्वारा हमारी परम्परा और आधुनिकता की धारणा बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी। इसके लिए सर्वप्रथम हमे 'परम्परा' का अर्थ एवं परिभाषा देखेंगे। इसके बाद हम परम्परा की महत्ता का वर्णन करेंगे। तत्पश्चात् हम आधुनिकता का अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा करेंगे फिर हम आधुनिकता के अभिलक्षणों को देखेंगे। इसके बाद हम परम्परा तथा आधुनिकता के संबंधों को देखेंगे। अंत में परम्परा और आधुनिकता के भेद, आदि देखते हुए उसके वास्तविक संबंध पर टिप्पणी करेंगे।

## 5.2 विषय-प्रवेश

परम्परा एवं आधुनिकता सामाजिक परिवर्तन के दो प्रमुख कारक हैं जिनका मनुष्य के आचरण पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मानव जीवन दो प्रकार की विरासतों से बना है-

(1) जैविक (Biological) तथा

(2) सामाजिक (Social)

हर व्यक्ति के शरीर की बनावट तथा अन्य शारीरिक एवं मानसिक विशेषताएँ उसके माता-पिता से प्राप्त होती हैं। ये आनुवंशिक विशेषताएँ (Inherited Qualities) हैं। परन्तु मानसिक और शारीरिक विशेषताओं के अतिरिक्त मनुष्य अपने समाज से भी कुछ प्राप्त करता है। ये सामाजिक विरासत हैं जैसे- खाने की सामग्री, पहनने का कपड़ा, रहने के लिए मकान, पढ़ने के लिए किताबें, भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, प्रथा, विचार, आदतें इत्यादि।

इस प्रकार, मनुष्य जो कुछ भी समाज से प्राप्त करता है वह सामाजिक विरासत कहे जाते हैं। ये सभी जैविक तथा सामाजिक विशेषताएँ (Biological and social heritage) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती हैं। इन्हीं जैविक तथा सामाजिक विशेषताओं को 'परम्परा' कहते हैं।

'आधुनिकता' समाज में होनेवाली परम्पराओं का परिणाम है। समाज में निरन्तर कई प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं जैसे प्राकृतिक, सांस्कृतिक, तकनीकी, जैविक तथा भौतिक। इन सभी परिवर्तनों के फलस्वरूप जो सामाजिक परिवर्तन आते हैं उन्हें 'आधुनिकता' की संज्ञा दी जाती है।

परम्परा और आधुनिकता में क्या संबंध है, यह हमारे सामने एक प्रमुख समस्या है जिसका समाधान हम इस पाठ में करेंगे।

## 5.3 मुख्य विषय : परम्परा तथा आधुनिकता में संबंध

जैसा कि हमने देखा, परम्परा वह सामाजिक विरासत है जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। परम्परा के अन्तर्गत वे सभी रीति-रिवाज, प्रथा, सामाजिक धारणाएँ, मूल्य, आचरण, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा, आदतें आदि आती हैं जिन्हें एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करनी हैं।

आधुनिकता का संबंध परिवर्तन की समस्या से है। हम तो यह जानते ही हैं कि समय के साथ-साथ हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होते जा रहे हैं। कितने ही प्रकार के भौतिक तथा प्राकृतिक, तकनीकी तथा सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं। फिर हमारे रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान आदि के तरीकों में भी गहरे परिवर्तन हुए हैं। इन सभी परिवर्तनों का परिणाम है ''आधुनिकता''।

अत: प्रश्न यह उठता है कि परम्परा और आधुनिकता में क्या संबंध है। पहली दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि परम्परा और आधुनिकता में विपरीत संबंध है क्योंकि परम्परा का संबंध भूतकाल या अतीत से है जबकि आधुनिकता का संबंध वर्त्तमान से है। परम्परायें स्वत:, प्राप्त हैं जबकि आधुनिकता का संबंध वर्तमान से है। परम्परायें स्वत: प्राप्त है जबकि आधुनिकता हम पर लादी जाती है। परम्पराएँ व्यवहार को सरल बनाती हैं। इस प्रकार, विचारकों के अनुसार परम्परा और आधुनिकता में कई प्रकार के भेद हैं।

किन्तु, ऐसा नहीं है कि परम्परा और आधुनिकता बंद डिब्बों की तरह हैं जिनका आपस में कोई संबंध ही नहीं है। परम्परा और आधुनिकता कभी-भी परम्परा का निषेध नहीं करती है बल्कि उसमें निहित रूढ़िवादिता अथवा कट्टरता को दूर करती है।

अतः परम्परा और आधुनिक सापेक्ष पद हैं। दोनों का आपस में संबंध है।

### 5.3.1 उपविषय : परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा

परम्परा मनुष्य की सामाजिक विरासत का एक प्रमुख हिस्सा है। परम्परा में वे सभी सामाजिक नियम आते हैं जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देती है। परम्परा के अन्तर्गत वे सभी ऐतिहासिक रीति-रिवाज, प्रथा, सामाजिक धारणाएँ, मूल्य, आचरण के नियम आदि आते हैं जिन्हें एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। इस प्रकार, परम्परा एक पीढ़ी के विचारों एवं नियमों को जीवित रखती है।

परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा–

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, ''परम्परा का अर्थ उन सभी विचारों, आदतों और प्रथाओं का योग है, जो व्यक्तियों के एक समुदाय का होता है और एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता है।''

जेम्स ड्रीवर (Games Drever) के अनुसार, ''परम्परा, कानून, प्रथा, कहानी तथा किंवदन्ती की वह संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होता है।''

योगेन्द्र सिंह (Yogendra Singh) के अनुसार, "Tradition is the cumulative heritage of a society which permeates through all the levels of social organisation, for e.g. the value system, the social structure and the structure of personality."

(i) कुछ विद्वानों ने सामाजिक विरासत को ही परम्परा कहा है। परम्परा का काम भी जैविक विरासत की भाँति भूतकाल की विशेषताओं को आगे वाली पीढ़ी में हस्तान्तरित करने का है और इससे भी व्यक्ति का व्यवहार निर्धारित होता है। इन विचारकों ने परम्परा का वृहत अर्थ लेते हुए सामाजिक विरासत तथा परम्परा को एक माना है।

(ii) कुछ विचारकों के अनुसार परम्परा और सामाजिक विरासत एक नहीं है। परम्परा सामाजिक विरासत का एक हिस्सा है। सामाजिक विरासत के अन्तर्गत दो प्रकार के तथ्य होते हैं-

(क) भौतिक (Material), (ख) अभौतिक (Non-material)

भोजन, कपड़ा, मकान, बर्तन, खिलौने, मशीन आदि मनुष्य की भौतिक सामाजिक विरासत हैं।

धर्म, मूल्य, आदतें, रीति-रिवाज आदि मनुष्य की अभौतिक सामाजिक विरासत हैं।

इन विचारकों के अनुसार समाज का अभौतिक अंश ही परम्परा कहलाता है। इस प्रकार, समाज से व्यक्ति के सोचने तथा व्यवहार के तरीके को जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है, परम्परा कहा जाता है।

### 5.3.2 उपविषय : परम्पराओं का महत्व

(1) परम्पराओं का अपना महत्व है। परम्पराएँ बनी-बनायी अथवा तैयार व्यवहार के प्रतिमान हैं जो बचपन से ही अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार, परम्परायें हमारे सामाजिक व्यवहार को सरल बना देती हैं। परम्परा के आधार पर समाज नई परिस्थितियों का या नयी समस्याओं का सरलता से सामना कर सकता है।

(2) परम्परा मनुष्य के व्यवहार को संचालित एवं नियंत्रित करती है। परम्परा के कारण व्यक्ति स्थापित प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करता है। इस प्रकार परम्परा हमारे व्यवहारों का दिशा निर्देश करती है।

(3) परम्परा मनुष्य की गहन समस्याओं का भी सरलता से समाधान निकाल देती है। जैसे विवाह की समस्या। इस प्रकार, परम्परा मानसिक तनाव से मुक्ति दिलाती हैं।

(4) परम्परा में सुरक्षा की भावना निहित है। परम्परा उन सफल सामाजिक नियमों का संग्रह है जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देती है। इस प्रकार, परम्परा उन लोगों को सुरक्षा और आराम प्रदान करती है, जो उन्हें मानते हैं।

(5) समय तथा शक्ति की बचत - चूँकि परम्परा से हमें व्यवहार के तैयार प्रतिमान मिलते हैं। अत: समय और शक्ति की बचत होती है। इस शक्ति को अन्य रचनात्मक कार्यों में लगाया जाता है।

(6) परम्परा सामाजिक या वैयक्तिक जीवन में एकरूपता उत्पन्न करती है। परम्परा सभी सदस्यों को एक रूप में मिलती है। इससे उनके व्यवहारों में एकरूपता आ जाती है।

(7) राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण - जब राष्ट्र के सभी लोग एक ही परम्परा द्वारा संचालित होंगे, तो एक राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण होगा जो देश को और भी मजबूत करेगा।

इस प्रकार, परम्पराओं का विशेष महत्व है।

### 5.3.3 उपविषय : आधुनिकता के अर्थ एवं परिभाषा

प्रत्येक समाज में दिन-प्रतिदिन कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। सामाजिक परिवर्तन के अनेक कारक हैं- कुछ प्राकृतिक तथा कुछ मानव द्वारा निर्मित। जैविक तथा भौतिक कारक प्राकृतिक हैं तथा तकनीकी एवं सांस्कृतिक कारक मानव द्वारा निर्मित हैं। प्राकृतिक कारकों के कारण तकनीकी तथा सांस्कृतिक कारकों के कारण जैविक तथा भौतिक परिवर्तन भी होते हैं। इस प्रकार, ये सभी कारक एक दूसरे से संबंधित हैं।

इन सभी परिवर्तनों का प्रभाव न केवल समाज के संरचना पर पड़ता है, वरन् सामाजिक मूल्यों पर भी इनकी प्रभाव पड़ता है। ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। इस प्रकार, समाजिक परिवर्तन चलता रहता है।

इस प्रकार, हम आधुनिकता की परिभाषा देते हुए यह कह सकते हैं कि आधुनिकता, विचारों, मूल्यों तथा संस्थाओं की एक नयी व्यवस्था है। (Modernity is a system of ideas, values and a system of institutions.)

आधुनिकता परिवर्तन की समस्या के साथ जुड़ी हुई है। परिवर्तन कई प्रकार के होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि इन सभी परिवर्तनों में किन परिवर्तनों को हम आधुनिकता की संज्ञा दे सकते हैं। यह प्रश्न मूल्य की समस्या के साथ भी जुड़ा हुआ है। किसी भी सामाजिक स्थिति को आँकने के लिए किसी मूल्य की समस्या उठती है। भारत के संबंध में यह समस्या और भी जटिल हो जाती है।

भारत में हम पाते हैं कि परिवर्तन प्राकृतिक या स्वाभाविक रूप में नहीं हुए हैं, जैसा कि जापान में हुआ है। भारत में परिवर्तन अंग्रेजी तथा विदेशी शासकों द्वारा हुआ है। जब विदेशी शासन का अंत हुआ तब इस देश के लोग अपनी इच्छा से आधुनिकता की ओर बढे। विदेशी शासन ने भारत में दो मुख्य प्रभाव डाले। ये प्रभाव इस प्रकार हैं–

(i) परम्परावादियों ने स्थापित मूल्यों को महत्व दिया, तथा

(ii) कुछ लोगों ने पश्चिमी सभ्यता को अपनाया और उनके समाज में पश्चिमीकरण हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिम यूरोप तथा उत्तरी अमरीका के देशों में और बीसवीं शताब्दी में दक्षिण अमरीका, अफ्रीका एवं एशिया के कई देशों में कई प्रकार के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन हुए, जिन्हें ''आधुनिकीकरण'' की संज्ञा दी जाती है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में कई परम्परायें पीछे रह गयी हैं। इसलिए, कुछ विचारकों ने आधुनिकता को परम्परा का विपरीत माना है।

इस प्रकार, आधुनिकता वह प्रवृत्ति (Tendency) अथवा झुकाव (Inclination) है जो परिवर्तन के साथ जुड़ा हुआ है। ये परिवर्तन तकनीकी विकास एवं आधुनिकीकरण के फलस्वरूप हुए हैं और इन परिवर्तनों ने हमारी मानसिकता को भी प्रभावित किया है।

आधुनिकता एक बहुमुखी (Multi-dimensional concept) है। इसका कोई निश्चित पथ या स्वरूप नहीं है। कुछ दिनों पहले तक पश्चिमी देशों को आधुनिकता का प्रतीक माना जाता था। किन्तु, आज रूस, चीन, जापान

इत्यादि को आधुनिकता का प्रतीक माना जाता है। भारत में जहाँ एक ओर Democratic Secularism माना गया है वहीं रूस को समाजवाद का प्रतिनिधि माना गया है।

कभी-कभी आधुनिकता का प्रयोग उत्थान (Progress) के लिए भी किया जाता है। जैसे जब धार्मिक संस्थाओं के सन्दर्भ में आधुनिकता का प्रयोग किया जाता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि धर्म उच्च मूल्यों की ओर अग्रसर हो रहा हैं।

आधुनिकता के अभिलक्षण (Implication)–

(1) विद्वानों का कहना है कि आधुनिकता एवं आधुनिकीकरण दोनों एक नहीं हैं। आधुनिकीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें परम्पराओं से आगे बढ़ते हुए अपने ऐच्छिक तकनीकी तरीकों को अपनाना है तथा सामाजिक ढाँचे को बदलता है। दूसरी ओर सत्य की खोज, सबों में समानता, बौद्धिक चिन्तन, स्वीकृत धर्म-निरपेक्षतावाद (Secularism Acceptance) ये आधुनिकता के लक्षण हैं। अत: यह सम्भव है कि हम आधुनिकीकरण की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं किन्तु फिर भी ऊपर वर्णित लक्षण के अभाव में हम सही अर्थो में आधुनिक नहीं कहे जा सकते हैं।

(2) कुछ विचारकों ने आधुनिकीकरण का अर्थ पश्चिमीकरण लगाया है। यह ठीक है कि भारतीय जीवन में सामाजिक परिवर्तनों की दिशा प्रदर्शित करने में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का भी योगदान रहा है। सम्पूर्ण देश पर उनका शासन उनकी भाषा, औद्योगीकरण तथा नगरीयकरण के द्वारा सामाजिक संरचना तथा मूल्यों में भारी परिवर्तन हुए हैं। परन्तु, यह प्रश्न उठता है कि क्या मात्र पश्चिम की नकल को आधुनिकीकरण कहा जाता है? ऐसी मान्यता भ्रामक है। पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण का एक कारक हो सकता है पर दोनों पर्यायवाची नहीं हैं।

(3) एक अन्य प्रमुख तथ्य यह है कि एक देश आधुनिकता की कामना करते हैं किन्तु वे पश्चिमीकरण से घृणा करते हैं, क्योंकि पश्चिमीकरण साम्राज्यवाद का द्योतक है। इस प्रकार, पश्चिमीकरण न शुभ, न ही अशुभ का प्रतीक है, किन्तु आधुनिकता शुभ का ही प्रतीक है।

(4) कुछ समाजशास्त्री आधुनिकीकरण के संबंध में संस्कृतीकरण की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार संस्कृतीकरण का अर्थ केवल नये रीति-रिवाजों का ग्रहण करना नहीं है, बल्कि नये विचारों और मूल्यों को भी अभिव्यक्त करना है। वह प्रक्रिया जिसके द्वारा हरिजन या नीची हिन्दू जाति या कोई जनजाति या अन्य समूह किसी उच्च नीति की दिशा में अपने रीति-रिवाज या धर्मकाण्ड या जीवन पद्धति बदलता है तो यह प्रक्रिया संस्कृतीकरण है। भारतीय ग्रामीण समाज में इसका गहरा प्रभाव रहा है। आधुनिकता में संस्कृतीकरण के तत्व भी वर्तमान है।

(5) सर्वव्यापीकरण भी आधुनिकता का ही एक तत्व है जिसमें पारम्परिक पद्धति तथा संस्कृति में उच्च श्रेणी की प्रगति होती है। इस प्रक्रिया को सर्वव्यापी (Universal) कहते हैं।

अत: यह स्पष्ट है कि आधुनिकता न मात्र सामाजिक संरचना में परिवर्तन का द्योतक है, न केवल मूल्यों में। आधुनिकता दो तथ्यों का संकेत करती है-

(i) युक्तिपूर्ण समीक्षात्मक दृष्टिकोण, तथा

(ii) धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण

मानव दृष्टिकोण का विकास रूढ़िवादिता से समीक्षात्मकता की दिशा में तथा धर्म अन्धापन से धर्म-निरपेक्षता की दिशा में होना आधुनिकता का ही लक्षण है। तकनीकी तथा औद्योगिक परिवर्तन तथा उसके फलस्वरूप सामाजिक संरचनाओं में भी आधुनिकता के ही लक्षण हैं।

### 5.3.5 उपविषय : परम्परा तथा आधुनिकता में संबंध

परम्परा और आधुनिकता सापेक्ष धारणायें हैं। इनके संबंध इस प्रकार हैं-

(i) परम्परा में सामाजिक विरासत हैं (Social heritage) इनका संबंध अतीत या भूतकाल से है, जबकि आधुनिकता का संबंध वर्त्तमान से है।

(ii) परम्पराएँ व्यवहार को सरल बनाती हैं जबकि आधुनिकता व्यवहार को जटिल बनाती हैं।

(iii) परम्पराएँ सामाजिक या वैयक्तिक में एकरूपता उत्पन्न करती हैं। आधुनिकता असमानता तथा विषमता उत्पन्न करती है।

(iv) परम्पराएँ रूढ़िवाद या अन्धविश्वास को प्रेरित करती हैं, जबकि आधुनिकता समीक्षात्मक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है।

(v) परम्पराएँ धर्म में कट्टरता तथा अंधविश्वास को प्रश्रय देती हैं जबकि आधुनिकता धर्म-निरपेक्षता को प्रोत्साहित करती है।

(vi) परम्पराएँ स्वतः प्राप्त हैं जबकि आधुनिकता हम पर लादी जाती है।

(vii) परम्पराएँ निर्यातवाद को मानती हैं तथा आधुनिकता संकल्प की स्वतंत्रता को मानती है।

(viii) परम्पराएँ निरपेक्ष मूल्यों में विश्वास करती हैं जबकि आधुनिकता मूल्यों को निरपेक्ष नहीं मानकर उन्हें परिवर्तनशील मानती हैं।

(ix) परम्परा तथा आधुनिकता दोनों ही लोगों के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि परम्परा तथा आधुनिकता में कई असमानताएँ या भिन्नताएँ हैं।

### 5.3.6 उपविषय : निष्कर्ष

परम्परा तथा आधुनिकता की परिभाषाएँ तथा सम्बन्ध देखने के उपरान्त, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परा और आधुनिकता कुछ पक्षों में एक दूसरे से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में परम्परा और आधुनिकता कुछ मानों में विरोधी हैं। हम पाते हैं कि जो प्रतिमान परम्परागत हैं, वे आधुनिक नहीं कहे जा सकते हैं तथा जो आधुनिक हैं, उन्हें परम्परागत नहीं कहा जा सकता है। अतः दोनों विरोधी प्रतीत होते हैं।

किन्तु, यह उचित नहीं है। आधुनिकता परम्परा का निषेध नहीं करती है वरन् यह परम्परा में निहित रूढ़िवादिता या अन्धविश्वास का निषेध करती है।

उदाहरणस्वरूप, ईश्वर में विश्वास एक परम्परागत विचार है जिसका खण्डन नहीं करती है, हालाँकि आधुनिकता ईश्वर की धारणा में निहित कट्टरता एंवं अन्धविश्वास का निषेध करती है।

## 5.4 सारांश

इस प्रकार, परम्परा एवं आधुनिकता यद्यपि एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि दोनों ही सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारक हैं जिनका समाज में रहनेवाले मनुष्य के व्यवहार पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अतः हमारे लिए दोनों की ही महत्ता है। मगर हमें इन्हें अन्धविश्वास के साथ मानना नहीं चाहिए वरन् बौद्धिक एवं समीक्षात्मक मन से उन्हें स्वीकार करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें उन्हीं परम्पराओं अथवा आधुनिकता के कारकों को मानना चाहिए जो हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सँवारने में सहायक हों।

## 5.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

परम्परा, आधुनिकता, सामाजिक विरासत, सामाजिक परिवर्तन, पीढ़ी दर पीढ़ी, रीति-रिवाज, मूल्यों, आदतें,

व्यवहार, भौतिक, अभौतिक, जैविक, राष्ट्रीय चरित्र, आधुनिकीकरण, धर्म-निरपेक्षता, पश्चिमीकरण, शुभत्व, कट्टरता, अन्ध-विश्वास, स्वतंत्रता, नियतिवाद, स्वतः प्राप्त, लादा।

## 5.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 5.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. परम्पराओं का संबंध-

(क) वर्त्तमान से है

(ख) भूत या अतीत से है

(ग) भविष्य से है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

2. आधुनिकता मानती है-

(क) स्वतंत्रता

(ख) भूत या अतीत से है

(ग) भविष्य से है

(घ) कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

### 5.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. परम्परा किसे कहते हैं ? परम्पराओं की महत्ता का वर्णन करें।

(उत्तर देखें उपविषय 5.3.1 और 5.3.2)

2. आधुनिकता किसे कहते हैं ? इसके लक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर देखें उपविषय 5.3.3 और 5.3.4)

### 6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. परम्परा तथा आधुनिकता के संबंधों की व्याख्या करें।

2. क्या आधुनिकता परम्परा का निषेध करती है ? टिप्पणी करें।

## 5.7 प्रस्तावित पाठ


(1) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

(2) An Introduction to Sociology – Vidya Bhushan & D. R. Sachdeva.


❖❖❖❖

# जाति एवं वर्ग

पाठ संरचना


6.1 उद्देश्य

6.2 विषय-प्रवेश

6.3 मुख्य विषय - जाति एवं वर्ग में भेद

- 6.3.1 उपविषय - जाति का अर्थ एवं परिभाषा
- 6.3.2 उपविषय - जाति-व्यवस्था के प्रमुख लक्षण
- 6.3.3 उपविषय - वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा
- 6.3.4 उपविषय - वर्ग व्यवस्था के प्रमुख लक्षण
- 6.3.5 उपविषय - जाति एवं वर्ग में भेद
- 6.3.5 उपविषय - निष्कर्ष

6.4 सारांश

6.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

6.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 6.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 6.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 6.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

6.7 प्रस्तावित पाठ


## 6.1 उद्देश्य

'जाति' और 'वर्ग' शब्दों का प्रयोग रोजमर्रा के जीवन में अक्सर होता है। अतः इन शब्दों से अच्छी तरह परिचित होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से हमने इस पाठ की संरचना की है। सर्वप्रथम, हम 'जाति' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा देखेंगे। इसके बाद हम उसके प्रमुख लक्षणा की चर्चा करेंगे। अंत में हम जाति और वर्ग के भेद की चर्चा करेंगे और निष्कर्ष पर आएंगे। इस चर्चा से जाति और वर्ग के बारे में हमारी धारणा स्पष्ट हो जाएगी जिससे कि हम इन दोनों शब्दों से पूर्णतः परिचित हो जाएंगे।

## 6.2 विषय-प्रवेश

विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है जो विभिन्न समूहों में बँटा हो। दूसरे शब्दों में, विभिन्न समाजों में

विभिन्न समूह पाए जाते हैं तथा इनकी विभिन्नता का आधार भी अलग-अलग है। प्राचीन काल में लिंग, आयु धन तथा बल के आधार पर लोगों के बीच ऊँच-नीच का भेद-भाव पाया जाता था अथवा इन्हीं आधारों पर समाज के लोगों का बँटवारा किया जाता था। किन्तु, आधुनिक विकसित समाज में इस विभिन्नता का आधार शिक्षा, धन, व्यक्तिगत योग्यता एवं कुशलता इत्यादि होता है।

भारतवर्ष में भी हम पाते हैं कि समाज विभिन्न जाति तथा वर्गो में बँटा हुआ है। जाति-प्रथा ही भारतीय समाज का आधार है। जाति-प्रथा हिन्दू समाज की संरचना का एक मुख्य आधार है। जाति-प्रथा भारत में आदिम काल से ही चली आ रही है। इसकी जड़ें इतनी मजबूत हैं कि इसे उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं है। इस संदर्भ में किंग्सले डेविस का कहना है, "जाति-व्यवस्था संसार में सभी समाजों में विद्यमान है और यह सभी धर्मो के लगभग सभी व्यक्तियों को प्रभावित करती है।"

सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा रूप वर्ग-व्यवस्था है। जब समाज के विभिन्न समूहों की सदस्यता का आधार जन्म न होकर अर्थ, कर्म, आयु, शिक्षा, व्यवसाय, इत्यादि रहता है, तब ऐसी व्यवस्था को वर्ग-व्यवस्था कहते हैं।

इस प्रकार, जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख रूप हैं।

## 6.3 मुख्य विषय-जाति और वर्ग में भेद

जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख रूप हैं। दोनों ही व्यक्ति के सामाजिक स्थिति एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर संकेत करते हैं। इस तरह तो दोनों ही समान प्रतीत होते हैं, मगर जाति और वर्ग में कई प्रकार के भेद हैं। जहाँ जाति का आधार जन्म होता है जबकि वर्ग खुला है अर्थात् व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कर्म के आधार पर किसी भी वर्ग में शामिल हो सकता है। अत: जाति प्रथा स्थिर है किन्तु वर्ग संरचना में परिवर्तन होता है। जाति प्रथा प्रजातंत्र में रूकावटें ला सकती है, लेकिन वर्ग नहीं। व्यक्ति को वर्ग में अधिक स्वतंत्रता होती है, जितनी जाति में नहीं। जाति-प्रथा में विवाह, आदि के नियम बहुत ही कठोर होते हैं। ऐसा वर्ग में नहीं होता है। वर्ग के नियम कठोर नहीं होते हैं।

इस प्रकार जाति एवं वर्ग यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण के रूप में तथापि इनमें बहुत अन्तर है। जाति एवं वर्ग के भेद की विस्तृत चर्चा हम बाद में करेंगे। इसके पहले हम जाति एवं वर्ग के अर्थ, परिभाषा एवं प्रमुख लक्षणों की चर्चा करेंगे।

### 6.3.1 उपविषय : जाति का अर्थ एवं परिभाषा

'जाति' शब्द का प्रयोग रोजमर्रा के जीवन में होता है और इस शब्द का प्रयोग हम एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से अलग सिद्ध करने के लिए करते हैं। हम बराबर यह कहते हैं कि यह व्यक्ति इस जाति का है तो वह व्यक्ति उस जाति का है। ऐसा कहने से हमारा यही तात्पर्य है कि वह किसी विशेष परिवार का सदस्य है और किसी विशेष जाति के माता-पिता की संतान है। इस प्रकार जाति वंशानुगत समूह होती है।

जाति-प्रथा एक जटिल सामाजिक संस्था है। अत: इसके संबंध में समाजशास्त्रियों के अपने-अपने विचार हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) मजुमदार और मदन (Majumdar and Madan) के अनुसार, "जाति बन्द वर्ग है।"

(2) एस० वी० केटकर (S.V. Ketkar) के अनुसार, "जाति एक ऐसा समूह है जिसकी दो विशेषताएँ हैं-

(क) इसके सदस्य वे ही होते हैं जो इनमें जन्म लेते हैं

(ख) इसके सदस्य अपने सामाजिक नियमों के आधार पर अपने समूह के बाहर विवाह नहीं कर सकते हैं।

(3) कूले (Cooley) के शब्दों में, "जब एक वर्ग लगभग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है, तब उसे जाति कहते हैं।"

(4) ब्लन्ट (Blunt) ने जाति को बहुत ही अच्छे ढंग से परिभाषित किया है, "जाति एक अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है, जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबंध लगाती है, एक सामान्य व्यवसाय को करती है या एक सामान्य उत्पत्ति का दावा करती है और एक सजातीय समुदाय के रूप में मान्य होती है।"

(5) ए० डब्लू० ग्रीन (A.W. Green) के शब्दों में, "Caste is a system of stratification in which molulity, movement up and down the status ladder, at least ideally may not occur. A person's ascrifed status is his life time status. Birth determines one's oexupation, place of residence, style of life, personal associates, and the group from among whom one must find a mate."

इन परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि जाति जन्म पर आधारित एक समूह है जो अपने सदस्यों के खान-पान, विवाह, व्यवसाय, सामाजिक सहवास के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाता है। साधारण शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ व्यक्तियों अथवा समूहों को 'जन्म' के आधार पर ही एक-दूसरे से उच्च अथवा निम्न मान लिया जता है, उस व्यवस्था को हम जाति-व्यवस्था कहते हैं।

### 6.3.2 उपविषय : जाति-व्यवस्था के प्रमुख लक्षण

आधुनिक विचारक जैसे हट्टन, डा० धुरिये, एन० के० दत्त ने जाति-प्रथा के संबंध में निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

**(1) जन्म के द्वारा निर्धारण (Determination by Birth)**– जाति की सदस्यता जन्म के द्वारा निर्धारित होती है। एक व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, उसकी सदस्यता उसी जाति की हो जाती है और फिर उसकी जाति बदल नहीं सकती है। भले ही उसकी संपत्ति, शिक्षा, व्यवसाय, आदि में परिवर्तन हो जाए किन्तु उसकी जाति नहीं बदल सकती है।

**(2) खान-पान तथा सामाजिक सहवास के नियम (Rules Concerining Food and Social Intercourse)**– जाति-प्रथा में खाने तथा उठने-बैठने पर भी प्रतिबंध होता है। सबसे अधिक प्रतिबंध शूद्रों द्वारा बनाये गए भोजन को छूने और खाने पर है। जातीय नियम के अनुसार ही सभी जाति के लोगों का खाने-पीने तथा उठने-बैठने का तरीका होता है। सामाजिक सम्पर्क के क्षेत्र में भी जाति-व्यवस्था अनेक प्रतिबन्ध लगाती है।

**(3) निश्चित व्यवसाय (Definite Occupation)**– जाति-व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति को अपने व्यवसाय का चुनाव करने में कोई स्वतंत्रता नहीं दी गई है। हिन्दू-शास्त्रों में सभी वर्णों के निश्चित व्यवसायों की चर्चा की गई है। मनु के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के कार्य निश्चित हैं। वर्ग-व्यवस्था से ही उत्पन्न होने के कारण जाति व्यवस्था के अन्तर्गत भी सभी व्यवसाय निश्चित हैं। हिन्दू समाज में आज भी एक मोची का बेटा अपने पिता का ही व्यवसाय करता है, एक बढ़ई का बेटा बढ़ई ही बनता है।

**(4) अन्तर्विवाही समूह (Endogamous Group)**– जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। प्रत्येक जाति के सदस्यों के ऊपर यह प्रतिबन्ध रहता है कि वह अपनी ही जाति के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करे। अर्थात् वह अपनी जाति एवं उपजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित न करें। जाति-प्रथा में सबसे कठोर प्रतिबन्ध वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित है।

**(5) संस्तरण (Hierarchy)**– संस्तरण का अर्थ है ऊँच-नीच व उतार चढ़ाव का क्रम। जाति-प्रथा में ऊँच-नीच का भेदभाव पाया जाता है। इस संस्तरण में ब्राह्मण को सबसे उच्च स्थिति प्राप्त है क्षत्रिय को द्वितीय, वैश्य को तृतीय तथा शूद्र को निम्न स्थान प्राप्त है।

**(6) सामाजिक तथा आर्थिक निर्योग्ताएँ**– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ जातियों को सामाजिक, धार्मिक और नागरिक क्षेत्रों में विशेष अधिकार दिए गए हैं तथा कुछ जातियों को सामाजिक और आर्थिक निर्योग्ताएँ मिली हैं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्योग्ताएँ अछूत जातियों के लिए हैं।

**(7) परम्परा, रीति-रिवाजों के स्पष्ट नियम (Rules Concerning Customs and Traditions)**– प्रत्येक जाति को जन्म संबंधी, विवाह और मृत्यु संबंधी अपने विशेष नियम होते हैं जिनका उसे पालन करना होता है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट होता है कि जाति-व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का एक विशेष रूप है जिसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म के आधार पर करके एक बन्द सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाता है। हाँलाकि ऊपर वर्णित जाति-प्रथा की विशेषताएँ आधुनिक युग में होने वाले जाति-परिवर्तनों से अनभिज्ञ हैं। वर्त्तमान युग में एक व्यक्ति को अपनी जाति बदलने में विशेष कठिनाई नहीं होती है। धन, प्रतिष्ठा, सत्ता तथा अपरिचितता के आधार पर एक जाति का दूसरी जाति में आन-जाना संभव है।

### 6.3.3 उपविषय : वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा

सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा रूप वर्ग-व्यवस्था है। जब समाज के विभिन्न समूहों की सदस्यता का आधार जन्म न होकर अर्थ, कर्म, आयु शिक्षा, व्यवसाय, इत्यादि रहता है तब ऐसी व्यवस्था को वर्ग-व्यवस्था कहते हैं। जैसे धनी वर्ग, लेखक वर्ग, शिक्षित वर्ग, किरानी वर्ग, आदि। सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वर्ग का तात्पर्य उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति लगभग समान होती है।

मार्क्स ने मनुष्य को अधिक स्पष्ट और आधारभूत अर्थ में "वर्ग-प्राणी" (Class-Animal) कहा है। हम पाते हैं कि प्रत्येक सामाजिक वर्ग में "सामाजिक चेतना" (Class-conciousness) पायी जाती है। आधुनिक युग में वर्ग-व्यवस्था का महत्त्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

वर्ग की परीभाषा

विभिन्न विद्वानों ने वर्ग की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं–

1. मेकाइवर एवं पेज (MacIver and Page)– के अनुसार, "सामाजिक वर्ग एक समुदाय का कोई भाग है जो सामाजिक स्थिति के आधार पर शेष भाग से पृथक होता है।"

2. ऑगबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के शब्दों में, "एक सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का योग है जिनका आवश्यक रूप से एक समाज-विशेष में, एक सी सामाजिक स्थिति होती है।"

3. हाबेल (Hoebel) के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समाज के अन्तर्गत वह समूह है, जिसके सदस्यों की कतिपय सामाजिक स्थितियाँ सामान्य होती हैं और जो इन स्थितियों से सम्बन्धित कार्यों को करते हुए कुछ ऐसे समान हितों के सम्बन्ध में एक जागरूकता विकसित कर लेते हैं जो दूसरे समूहों के हितों एवं लक्षणों से भिन्न हैं।"

4. जिस्बर्ट (Gisbert) के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियों का समूह अथवा एक विशेष श्रेणी (Category) है जिसका समाज में एक विशेष पद होता है। यह विशेष पद अथवा स्थिति ही अन्य समूहों से उनके सम्बन्धों को निर्धारित करती है।"

उपर्युक्त परिभाओं के आधार पर हम वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे–

### 6.3.4 उपविषय : वर्ग व्यवस्था के प्रमुख लक्षण

**(i) स्थिति समूहों का एक निश्चित संस्तरण (Hierarchy of Status Group)**– समाज में विभिन्न वर्गों का ढाँचा पिरामिड के समान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि समाज के सर्वोच्च वर्ग में सदस्यों की संख्या सबसे कम होती है लेकिन उनकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक होती है। इसके विपरीत निम्न वर्ग में सदस्यों की संख्या

सबसे अधिक होती है किन्तु उन्हें मिलने वाली सामाजिक प्रतिष्ठा सबसे कम होती है। सामाजिक स्थिति से सम्बन्धित इस भिन्नता के कारण ही विभिन्न वर्गो के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सामाजिक दूरी की भावना विकसित हो जाती है।

**(ii) व्यवसाय (Ocupation)**– व्यवसाय ही वर्ग-व्यवस्था का आधार माना गया है। इस व्यवस्था के अनुसार ऊँचे व्यवसाय या ओहदे के लोगों को ऊँचा और निम्न व्यवसाय के लोगों को नीचा माना जाता है।

**(iii) जन्म पर आधारित नहीं (Not Based on Birth)**– वर्ग व्यवस्था जन्म पर आधारित नहीं है। एक व्यक्ति अच्छे परिवार में जन्म लेने के बाद भी योग्य एवं कुशल नहीं है, तो वह निम्न वर्ग में चला जाता है। इसके विपरीत निम्न वर्ग में जन्म लेकर भी व्यक्ति, सम्पत्ति, विद्या एवं कुशलता के आधार पर ऊँचे वर्ग में चला जाता है।

**(iv) खुली व्यवस्था (Open System)**– जन्म पर आधारित न होने के कारण वर्गो की प्रकृति खुली हुई होती है, अर्थात् एक विशेष योग्यता अथवा कुशलता होने पर व्यक्ति उसके अनुरूप किसी भी वर्ग का सदस्य हो सकता है। इस प्रकार, वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत एक वर्ग से दूसरे वर्ग में गतिशीलता की पूरी गुंजाइश हो।

**(v) वर्ग-चेतना (Class-Consciousness)**– प्रत्येक वर्ग में वर्ग-चेतना पायी जाती है। वर्ग-चेतना के कारण ही एक वर्ग के सदस्यों में संगठन पाया जाता है तथा उन्हें दूसरे वर्ग के विरूद्ध संगठित होने की प्रेरणा भी मिलती है। इस प्रकार, एक वर्ग के कारण वर्ग-चेतना का विकास हो जाता है।

**(vi) जीवन अवसर (Life Opportunity)**– प्रत्येक वर्ग के लोगों के जीवन अवसर में समानता पायी जाती है। एक वर्ग विशेष की जीवनशैली, पारिवारिक सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, निवास-स्थान, वेश-भूषा दूसरे वर्ग से अलग होता है।

**(vi) पूर्णतया अर्जित (Totally Acquired)**– समाज व्यक्ति को किसी विशेष वर्ग की सदस्याता स्वयं ही प्रदान नहीं कर देता बल्कि इसके लिए व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना आवश्यक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि एक विशेष वर्ग की सदस्यता व्यक्ति की योग्यता एवं कार्यकुशलता पर निर्भर होती है। कुछ समय के लिए व्यक्ति अपनी कुशलता से भिन्न वर्ग का भी सदस्य रह सकता है लेकिन स्थायी रूप से उसे वही वर्ग प्राप्त होता है, जिसके अनुरूप उसकी योग्यता होती है।

इस प्रकार, वर्ग-व्यवस्था केवल आर्थिक असमानता पर आधारित नहीं हैं जैसा कि कार्ल मार्क्स एवं ऐंजिल्स का विचार था, वरन् यह अनेक कारणों पर आधारित है।

### 6.3.5 उपविषय : जाति एवं वर्ग में अन्तर

जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख रूप हैं। जाति और वर्ग समाज में व्यक्ति की स्थिति अथवा प्रतिष्ठा का बोध कराते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से दोनों में समानता है। लेकिन जाति-व्यवस्था, धन, शिक्षा, जीवन-स्तर, नेतृत्व, मनोवृत्तियों तथा इसी प्रकार के अनेक दूसरे आधारों पर होता है। इस दृष्टिकोण से जाति और वर्ग के बीच निम्नलिखित प्रमुख अन्तरों का उल्लेख किया जा सकता है :–

**(i) जाति का आधार जन्म है लेकिन वर्ग का आधार कर्म**– जाति जन्म पर आधारित है। एक जाति के सदस्य एक विशेष जाति में जन्म लेने के कारण ही उसके सदस्य होते हैं। जैसे, ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण। इस प्रकार, एक ही जाति के विभिन्न प्रकार की योग्यता, कुशलता एवं आर्थिक स्थिति वालें सदस्य होते हैं। इसके विपरीत, एक वर्ग के सभी सदस्यों की योग्यता और सामाजिक स्थिति लगभग समान होती है क्योंकि जैसे ही एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अथवा योग्यता में अधिक परिवर्तन होता है, उसकी एक विशेष वर्ग की सदस्यता भी अपने आप परिवर्तित हो जाती है।

**(ii) जाति एक बन्द समूह है जबकि वर्ग खुला**– जाति एक बन्द व्यवस्था है जिसके सदस्य केवल वे ही हो सकते हैं जो उसमें जन्म लेते हैं। जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित होने के कारण व्यक्ति इसमें आजीवन

किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। जैसे, ब्राह्मण का काम शिक्षा देना है, पूजा-पाठ करवाना है तथा शास्त्रों का अध्ययन करना है। मगर यदि एक वैश्य या शूद्र सारे शास्त्रों का अध्ययन कर लेता है, तो वह ब्राह्मण नहीं बन सकता है। अत: जाति को एक बन्द समूह कहते हैं। इसके विपरीत, वर्ग की सदस्यता खुली होती है। इसमें किसी भी समय परिवर्तन हो सकता है। जैसे ही एक व्यक्ति की सामाजिक सिथति अथवा योग्यता में अधिक परिवर्तन होता है, उसकी एक विशेष प्रकार की सदस्यता भी अपने आप परिवर्तित हो जाती है।

**(iii) जाति का व्यवसाय निश्चित है, वर्ग का नहीं**– जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित व्यवसाय होता है इसके सदस्य अपने परम्परागत पेशे को ही अपनाते हैं। जैसे- ब्राह्मण का काम शिक्षा देना, पूजा-पाठ करवाना, आदि है और ब्राह्मण जाति में जन्म लेने वाले सभी लोगों को यह काम करना पड़ता है। किन्तु, वर्ग में किसी वर्ग का कोई निश्चित, पूर्व-निर्धारित व परम्परागत पेशा नहीं होता है।

**(iv) चेतना**– वर्ग के सदस्यों में वर्ग-चेतना होती है, जबकि जाति के सदस्यों में ऐसी कोई व्यक्तिगत चेतना नहीं होती हैं।

**(v) जाति एक अन्तर्विवाही समूह है, लेकिन वर्ग नहीं**– जाति-प्रथा के अन्तर्गत लोगों पर यह प्रतिबंध रहता है कि वे अपनी जाति व उपजाति के बाहर शादी नहीं कर सकते हैं, किन्तु वर्ग में इस तरह का कोई कठोर प्रतिबन्ध नहीं है। एक वर्ग का व्यक्ति अपने से ऊँचे या नीचे वर्ग से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

**(vi) जाति की सदस्यता प्रदत्त है, जबकि वर्ग की सदस्यता अर्जित होती है**– जाति की सदस्यता इस अर्थ में प्रदत्त है कि व्यक्ति इसे प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, बल्कि यह जन्म के द्वारा उसे अपने-आप प्राप्त हो जाती है। यहीं कारण है कि जाति अधिक स्थिर होती है अर्थात् इस पर व्यक्ति की योग्यता विद्वत्ता, निर्धनता अथवा सम्पन्नता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन वर्ग के साथ ऐसी बात नहीं है। एक व्यक्ति को अपने प्रयत्न एवं कर्म के द्वारा ही हैसियत, प्रतिष्ठा, स्थिति एवं मर्यादा प्राप्त होती है।

**(vii) जाति स्थिर है किन्तु वर्ग नहीं**– जाति एक स्थिर प्रथा है एक ऐसा संगठन जो हजारों वर्षों से चली आ रही है। इसके विपरीत वर्ग-संरचना में परिवर्तन होता रहता है। समाज की राजनीतिक एवं आर्थिक दशाओं में परिवर्तन होने से वर्ग की स्थिति में परिवर्तन आ जाता है।

**(viii) जाति का संस्तरण अधिक निश्चित है, वर्ग का उतना नहीं**– जाति व्यवस्था में समाज निश्चित श्रेणियों में बँटा हुआ है, ब्राह्मण सबसे ऊपर हैं, फिर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आते हैं। वर्ग में यद्यपि वर्गीकरण सामाजिक और आर्थिक कारणों पर निर्भर करता है, फिर भी उच्च वर्ग और निम्न वर्ग में भेद करना आवश्यक है।

**(ix) वर्ग-व्यवस्था प्रजातंत्र में उतनी रूकावट नहीं करता है जितनी जाति-व्यवस्था**– वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति को अधिक स्वतंत्रता होती हैं, जाति-प्रथा में उतनी नहीं।

**(x) वर्गों में सामाजिक दूरी कम होती है जबकि जाति में यह दूरी अधिक होती है**– चूँकि जाति एक बन्द समूह है, अत: एक जाति के सदस्यों की दूसरी जाति के लोगों से अधिक दूरी होती है! इसके विपरीत, वर्गों के रहन-सहन, आदि में यद्यपि विभिन्नता होती है तथापि उनमें बहुत दूरी नहीं होती है। वे चाहें तो एक दूसरे से मिल सकते हैं।

इस प्रकार, जाति और वर्ग में कई अन्तर हैं।

### 6.3.6 उपविषय : निष्कर्ष

ऊपर की चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जाति-प्रथा के नियम अधिक कठोर हैं, वर्ग के उतने नहीं। हम यह जानते हैं कि आजकल ऐसे कई प्रयत्न किए जा रहे हैं जिनके द्वारा इन कठोर नियमों में नरमी लाई जाए। आजकल सभी जाति के लोग आपस में मिलने का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि उनके बीच की सामाजिक दूरी कम हो सके। कई अन्तर्जातीय विवाह भी हुए हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इसके विपरीत, हमें यह भी देखने

को मिलता है कि विभिन्न वर्गों के लोगों के बीच की सामाजिक दूरी बढ़ती जा रही है। उच्च वर्ग के लोग अपने को निम्न वर्ग के लोगों से दूर रखना चाहते हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा के प्रभाव के कारण जाति और वर्ग व्यवस्थाओं के नियमों में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं।

## 6.4 सारांश

इस प्रकार, जाति और वर्ग सामाजिक स्तरीकरण के दो प्रमुख रूप हैं। जाति "बंद-स्तरीकरण" कहलाती है तो वर्ग "खुला स्तरीकरण"। दोनों के अपने विशेष लक्षण हैं। दोनों एक दूसरे से कई अर्थों में भिन्न हैं। परन्तु दोनों ही समाज में रहने वाले व्यक्तियों की स्थिति एवं प्रतिष्ठा का बोध कराते हैं।

## 6.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

वर्ग, जाति, स्तरीकरण, समूह, व्यक्तिगत योग्यता, कुशलता, बन्द, अन्तर्विवाही, संस्करण, स्थिति, मर्यादा, प्रतिष्ठा, व्यवसाय, वर्ग-चेतना, शारीरिक श्रम, सदस्यता, कर्म, वर्ग-संरचना, परिवर्तन, हैसियत, प्रतिबन्ध, निश्चित, पूर्व निर्धारित, परम्परागत, पारिवारिक सम्बन्ध, वैवाहिक सम्बन्ध, बंद-स्तरीकरण, खुला स्तरीकरण।

## 6.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 6.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. जाति व्यवस्था-

(क) खुला स्तरीकरण है

(ख) बंद स्तरीकरण है

(ग) दोनों

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

2. वर्ग-चेतना-

(क) जाति-व्यवस्था में पायी जाती है

(ख) वर्ग-व्यवस्था में पायी जाती है

(ग) समाज में पायी जाती है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 6.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. जाति की परिभाषा दें तथा इसके प्रमुख लक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर - उपविषय 6.3.1 और 6.3.2)

2. वर्ग की परिभाषा दे और इसकी विशेषताएँ लिखें।

(उत्तर - उपविषय 6.3.3 और 6.3.4)

### 6.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जाति एवं वर्ग में भेद करें।
2. ''जाति बन्द स्तरीकरण है और वर्ग खुला स्तरीकरण।'' समीक्षा करें।

## 6.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | समाजशास्त्र के सिद्धांत | – | G. K. Agarwal |
| 2. | समाज - दर्शन | – | Dr. Vatsgayan |
| 3. | प्रारंभिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | अशोक कुमार वर्मा |
| 4. | An Introduction to Social Anthropology | – | A.K. Verma |
| 5. | An Introduction to Sociology | – | Vidya Bhushan & D R Sachdeva. |


❖❖❖❖

# विवाह और तलाक

पाठ संरचना


7.1 उद्देश्य

7.2 विषय-प्रवेश

7.3 मुख्य विषय - विवाह और तलाक का महत्त्व

- 7.3.1 उपविषय - विवाह का अर्थ, उद्देश्य अथवा प्रयोजन
- 7.3.2 उपविषय - विवाह के प्रकार, उनके कारण, गुण एवं अवगुण
- 7.3.3 उपविषय - विवाह की सफलता
- 7.3.4 उपविषय - तलाक
- 7.3.5 उपविषय - निष्कर्ष

7.4 सारांश

7.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

7.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 7.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 7.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 7.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

7.7 प्रस्तावित पाठ


## 7.1 उद्देश्य

विवाह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। समाज-दर्शन का मुख्य संबंध सामाजिक संबंधों के अध्ययन से है और विवाह उनमें से एक है। अत: पाठ की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख लक्ष्य है वह यह जानना है कि विवाह का अर्थ क्या हैं, इसके प्रमुख लक्षण क्या है, इसका उद्देश्य अथवा प्रयोजन क्या है। अत: सर्वप्रथम हम इसी की चर्चा करेंगे। इसके बाद हम विवाह के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे, उनके कारण, गुण एवं अवगुण का अध्ययन करेंगे। इसके पश्चात् हम उन कारणों की चर्चा करेंगे जिनपर विवाह की सफलता आधारित है। अतं में ''तलाक'' की अवधारणा का भी अध्ययन करेंगे और इसके संबंध में विभिन्न विचारों का उल्लेख करेंगे।

निष्कर्ष के रूप में हम विवाह और तलाक पर अपने विचारों का उल्लेख करेंगे और उनकी उपयोगिता की जाँच करेंगे।

## 7.2 विषय प्रवेश

विवाह वह महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जिसके आधार पर परिवार की स्थापना होती है। दूसरे शब्दों में परिवार संघ है, विवाह उसकी संस्था। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

समाज-दर्शन का मुख्य संबंध सामाजिक संबंधों के स्वरूप, उनके प्रकार, उनकी समस्याएँ, उन्नति तथा कार्य के अध्ययन से है। मनुष्य हमेशा समाज में रहा है तथा परिवार के द्वारा ही वह समाज तक पहुँचता है। विवाह वह संस्था है जिसके आधार पर परिवार की स्थिति है।

संतान प्रजनन और परिवार स्थापित करने की समाज की स्वीकृत पद्धति ही ''विवाह'' है। विवाह में यथासंभव पुरूष और स्त्री स्थायी रूप से एक सूत्र में बंध जाते हैं। विवाह की संस्था परिवार से संबंधित है और यह उतनी ही पुरानी संस्था है जितना पुराना परिवार; लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि परविार और विवाह दोनों एक ही हैं। विवाह होने पर बच्चे नहीं भी हो सकते हैं।

इस प्रकार, विवाह ही वह संस्था है जिसके द्वारा समाज एक पुरूष तथा स्त्री को यौन-सम्बन्ध के लिए स्वीकृति देता है। गैरकानूनी और समाज से अस्वीकृत यौन-सम्बन्ध को विवाह नहीं कहा जा सकता है। बलात्कार, निषिद्ध सम्भोग, व्यभिचार, आदि ऐसे यौन-सम्बंध है जिन्हें गैरकानूनी माना गया है और समाज के द्वारा इन्हें निंदनीय माना गया है। किन्तु, विवाह यौन-सम्बन्ध को स्वीकृति प्रदान करता है।

किसी परिवार में पुरूष और स्त्री के यौन सम्बन्ध के लिए स्वीकृत एवं स्थापित व्यवस्था ही विवाह है।

तलाक वह संस्था है जिसके द्वारा पति और पत्नी दोनों एक दूसरे से सदा के लिए अलग हो जाते हैं और उन्हें फिर से अपना घर बनाने का अधिकार होता है।

## 7.3 मुख्य विषय : विवाह एवं तलाक की महत्ता

जैसा कि ऊपर कहा गया विवाह एक स्वीकृत सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा एक स्त्री एवं पुरूष परिवार की स्थापना करते हैं। किसी परिवार में पुरूष और स्त्री के यौन संबंध में लिए स्वीकृत एवं स्थापित व्यवस्था ही परिवार की स्थापना होती है।

विवाह धार्मिक अनुष्ठान अथवा कानूनी व्यवस्था का परिणाम है। इस प्रकार, विवाह को समाज की स्वीकृति मिलती है। विवाह की महत्ता भी इसी में है कि यह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा महत्त्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति होती है।

दूसरी ओर 'तलाक' के द्वारा पति-पत्नी एक दूसरे से सदा के लिए अलग हो जाते हैं और उन्हें फिर से अपना परिवार और घर बनाने का अधिकार मिलता है। विवाह स्त्री-पुरूष का समाज द्वारा स्वीकृत यौन सम्बन्ध है जिसके अनुसार कुछ उद्देश्यों की पूर्ति होती है। जब इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है तो विवाह की सार्थकता नष्ट हो जाती है। ऐसी हालत में वैवाहिक सम्बन्धों को तोड़ने के लिए तलाक की संस्था है।

वैसे तो 'तलाक' की अवधारणा का विरोध किया जाता है मगर यदि स्त्री द्वारा पुरूष अथवा पुरूष द्वारा स्त्री का अत्यधिक शोषण होता है, तो तलाक उनके सहयोग के लिए बनाया गया है। ''वास्तव में वैवाहिक और पारिवारिक संस्था को पुनः संयत एवं सुदृढ़ बनाना ही तलका का उद्देश्य है,'' श्री अशोक कुमार वर्मा के शब्दों में।

### 7.3.1 उपविषय : विवाह का अर्थ, उद्देश्य अथवा प्रयोजन

समाजशास्त्रियों तथा समाज-दार्शनिकों ने विवाह की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं।

वेस्टरमार्क (Westermarck) ने विवाह की महत्त्वपूर्ण परिभाषा दी है, "Marriage is a relation of one or more men to one or more women which is recognised by custom or law and involves certain rights and duties both in the case of parties entering the union and in the case of children of it."

Lewie ने विवाह की परिभाषा देतु हुए कहा है, "It is a relatively permanent bond between permisiible mates."

Malinowski के शब्दों में विवाह एक समझौता है जिसके द्वारा बच्चों का जन्म एवं परवरिश होता है।

Horton तथा Hunt के शब्दों में, "विवाह एक स्वीकृत सामाजिक व्यवस्था है जिसके द्वारा दो या दो से अधिक व्यक्ति परिवार की स्थापना करते हैं।"

Mazumdar, H.J. defines marriage as, "a socially santioned union of male and female, or as a secondary institution devised by society to sanction the union and mating of male and female, for the purposes of

(a) establishing a household

(b) entering into sex relations

(c) procreating and

(d) providing care for the offspring.

ऊपर लिखित परिभाषाओं के आधार पर विवाह के निम्नलिखित लक्षण पाए जाते हैं। ये ही विवाह के उद्देश्य अथवा प्रयोजन भी हैं–

(क) विवाह धार्मिक तथा नागरिक अनुष्ठान का परिणाम है।

(ख) विवाह यौन तुष्टि (Sex satisfaction) का सबसे उत्कृष्ट साधन है।

(ग) विवाह के द्वारा पुरूष और स्त्री की यौन-क्रिया नियन्त्रित कर दिया जाती है। यह मनुष्य के यौन जीवन को नियंत्रित करता है। इस प्रकार व्यक्ति का स्वास्थ्य भी ठीक रहेगा तथा समाज में शांति और सुरक्षा कायम रह सकती है।

(घ) विवाह का एकमात्र उद्देश्य संतान की उत्पत्ति नहीं, बल्कि मैत्री और प्रेम की भावना को जागृत करना है। यह दो व्यक्तियों के मन और भावनाओं में एकीकरण स्थापित करता है तथा प्यार की भावना जागृत करता है। यह व्यक्ति के आत्म-विकास और आत्म-सिद्धि के साधन हैं। इसलिए शारीरिक सम्बन्ध द्वारा आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करना विवाह का उद्देश्य होना चाहिए।

(ङ) विवाह के द्वारा स्नेह, प्यार, ममता, सहानुभूति, इत्यादि सामाजिक भावनाएँ जागृत होती हैं क्योंकि विवाह के बाद बच्चे होते हैं और उनके प्रति माता-पिता का प्यार होता है और यही भावनाएँ सामाजिक भावनाएँ जागृत करती हैं।

विवाह का उद्देश्य पति-पत्नी में आर्थिक सहयोग भी है।

विवाह के प्रमुख उद्देश्य हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, आदि सभी वर्ग के लोगों में पाए जाते हैं।

### 7.3.2 उपविषय : विवाह के प्रकार, उनके कारण, गुण एवं अवगुण

प्रत्येक समाज में विवाह का एक न एक रूप वर्त्तमान रहता है। संस्कृति एवं सभ्यता में परिवर्तन के फलस्वरूप इसका रूप एवं कार्य बदलता रहता है।

विवाह के मुख्य रूप इस प्रकार से हैं–

**1. एक-विवाह (Monogamy)**– एक पति, एक पत्नी। एक-विवाह या एक पत्नीत्व में एक पुरूष एक ही स्त्री से विवाह कर सकता है। एक पत्नीत्व प्रायः सभी सभ्य समाजों में पाया जाता है।

एक-विवाह के गुण -

(i) यह सबसे अधिक प्रेम तथा सहयोग की भावना उत्पन्न करता है।

(ii) बच्चों की भी अच्छी देखभाल होती है क्योंकि माता-पिता दोनों ही उसकी देखभाल करते हैं।

(iii) बूढ़े माता-पिता की अच्छी देखभाल होती है।

Molinowski के शब्दों में, ''Monogamy is, has been, and will remain the only true type of marriage.''

**2. बहुविवाह (Polygamy or Polygyny)**– ''एक पति, अनेक पत्नियाँ।'' इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक व्यक्ति के दो या दो से अधिक पत्नियाँ होती हैं। इसे बहुपत्नीत्व भी कहते हैं जिनमें एक पुरूष की दो या दो से अधिक पत्न्याँ होती हैं। प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं में बहुविवाह यानी बहुपत्नीत्व प्रचलित रहता था। बहुपत्नीत्व Eskimotribes, North America के Grow तथा Afdatsa तथा African Negroes में पाया जाता है। भारत में यह प्रथा मुसलमानों के बीच पाया जाता है तथा कुछ हिन्दुओं में भी पाया जाता है। वेस्टरमार्क ने बहुविवाह के कुछ कारण बताए हैं–

(i) गर्भावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन

(ii) स्त्रियों का शीघ्र वृद्धा हो जाना

(iii) अनेक की इच्छा

(iv) अधिक बच्चे प्राप्त करने की चाह

(v) सामाजिक प्रतिष्ठा

(vi) आर्थिक आवश्यकता अर्थात् स्त्रीयों के रूप में सस्ती कामगार पाना।

बहुविवाह के गुण–

(i) यह वेश्यावृत्ति को रोकता है।

(ii) यह समाज को स्वस्थ बच्चे देता है।

(iii) बच्चों की अच्छी देखभाल होती है क्योंकि उनकी अनेक माताएँ होती हैं।

बहुविवाह के अवगुण–

(i) यह परिवार के ऊपर अत्यधिक बोझ डाल देता है।

(ii) देखभाल के लिए बहुत बच्चे हो जाते हैं।

(iii) यह स्त्रियों तथा बच्चों में जलन-ईर्ष्या की भावना उत्पन्न करता है।

(iv) यह पारिवारिक सुख नष्ट कर देता है।

**3. बहुभर्तृत्व (Polyandry)**– एक पत्नी, अनेक पति। बहुभर्तृत्व वैसे विवाह को कहते हैं जिसमें एक

स्त्री अनेक पुरूषों के साथ विवाह करती है। महाभारत में पांडव-द्रोपदी का विवाह इसका उदाहरण है। बहुभर्तृत्व साधारणतः समाज द्वारा विवाह नहीं है, लेकिन कुछ समाजों में यह स्वीकृत है। दक्षिण भारत में टोडा (Todas), उत्तरी तिब्बतवासी तथा पूर्वी अफ्रिका की बहिमा जाति और कुछ इस्कीमों जाति में बहुभर्तृत्व प्रचलित भी है और मान्य भी है।

बहुभर्तृत्व के दो प्रकार हैं–

**(i) पैतृक बहुभर्तृत्व (Fraternal Polyandry)**– बहुभर्तृत्व के इस प्रकार में एक ही पत्नी को सभी भाइयों की पत्नी माना जाता है और जो बच्चे होते हैं उन्हें सबसे बड़े भाई की संतान माना जाता है। यह प्रथा टोडा जाति में प्रचलित थी।

**(ii) अपैतृक बहुभर्तृत्व (Non-fraternal Polyandry)**– इसमें एक स्त्री के अनेक पति होते हैं जो आवश्यक नहीं कि भाई ही हो।

बहुभर्तृत्व के कई कारण हैं :-

(i) गरीबी (Poverty)

(ii) औरतों की कम संख्या (Lesser Number of Women)

(iii) अधिक माँग (High Bride Price)

(iv) जनसंख्या नियंत्रण (Population Control)

(v) पिछड़ापन (Backwardness)

(vi) संयुक्त परिवार (Joint Family)

बहुभर्तृत्व की विशेषता अथवा गुण–

(i) यह जनसंख्या का नियंत्रण करता है।

(ii) पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन नहीं होता है।

(iii) सदस्य करीब और सुरक्षित महसूस करते हैं।

(iv) परिवार की आर्थिक स्थिति ठोस बनती है।

बहुभर्तृत्व के अवगुण :-

(i) इसमें औरत के स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि उसे कई मर्दो की यौन-संतुष्टि करनी पड़ती है।

(ii) इसमें जनसंख्या के अंत की संभावना है।

(iii) तलाक आसानी से मिल सकता है।

बहुभर्तृत्व का लगभग अंत ही हो गया है।

**4. अन्तर्विवाह (Endogamy)**– जब किसी समुदाय के व्यक्ति को अपने गिरोह के ही व्यक्तियों के साथ शादी करने की स्वतंत्रता हो तब उस प्रकार के विवाह को अन्तर्विवाह (Endogamy) कहते हैं। समुदाय के बाहर विवाह का निषेध है। जैसे-भारतवर्ष में एक ब्राह्मण का विवाह ब्राह्मण जाति में ही हो सकता है।

अन्तर्विवाह के कारण :-

(i) अलगाव का सिद्धांत (Policy of Separation)

(ii) समुदाय के अन्दर ही धन का रहना (To keep wealth within the group)

(iii) धार्मिक मतभेद (Religious Differences)

(iv) जातीय एवं सांस्कृतिक भेद (Racial and Cultural Differences)

(v) भौगोलिक अलगाव (Geographical Differences)

अंतर्विवाह के गुण :-

(i) समुदाय की एकता (Unity of the Group)

(ii) औरतों का सुख (Keeps women happy)

(iii) धन तथा उन्नति समुदाय के अन्दर ही रह जाती है (Keeps wealth and prosperity within the Group)

(iv) समुदाय के व्यावसायिक रहस्य समुदाय के अन्दर ही रह जाते हैं (Keeps Intact the Business Secrets of the Group)

(v) समुदाय की एकता तथा पवित्रता बनी रहती है। (Preserves group homogenity and purity of the Group)

अन्तर्विवाह के अवगुण :-

(i) यह राष्ट्रीय भावना का खंडन करता है तथा जातिवाद को प्रश्रय देता है।

(ii) यह समुदायों के बीच ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना उत्पन्न करता है।

(iii) यह वर-वधू चुनाव का क्षेत्र सीमित कर देता है तथा दहेज-प्रथा, आदि को बढ़ावा देता है।

इन दोषों के कारण यह आवश्यक है कि अन्तर्विवाह की प्रथा का खंडन होना चाहिए। आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव के कारण यह प्रथा कम होती जा रही हैं।

**5. बाह्य विवाह (Exogamy)**– जब किसी समुदाय के व्यक्ति को किसी दूसरे समुदाय के व्यक्तियों के साथ विवाह करने की अनुमति रहती है तो उसे बाह्य विवाह कहते हैं। इसमें व्यक्ति को न केवल अपने समुदाय से ही पत्नी को नहीं चुनना है बल्कि अपने पुरखों के समुदाय से भी बचना है। बहुत से लोग ऐसी जगह विवाह करना पसंद नहीं करते हैं जहाँ खून का रिश्ता हो अथवा कोई निकट सम्बन्ध हो।

बाह्य विवाह के कारण

वेस्टरमार्क के अनुसार बाह्य विवाह के प्रमुख कारण हैं :-

(i) निकट के व्यक्तियों में यौन-उदासीनता (Presence of Sexsul Indifference Between Near Relatives)

(ii) अगर विवाह एक ही समुदाय के अन्तर्गत होता है तो पीढ़ियों की गड़बड़ी हो जाती है क्योंकि परिवार के अन्दर ही परिवार होते हैं।

बाह्य विवाह के गुण–

(i) जैविक दृष्टिकोण से यह सही माना गया है; क्योंकि इससे स्वस्थ तथा बुद्धिमान बच्चे उत्पन्न होते हैं।

(ii) यह यौन सम्बंधी ईर्ष्या या द्वेष की भावना दूर करता है।

(iii) यह परिवार को संगठित करता है।

(iv) यह समाज को भी मजबूत करता है।

बाह्यविवाह के अवगुण–

(i) वर-वधू के चुनाव का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

(ii) यह दहेज-प्रथा को प्रश्रय देता है जिससे वधु के जलने का भी कांड होता है।

(iii) देर से विवाह होने के कारण व्यभिचार को बढ़ावा मिलता है।

इन्हीं अवगुणों के कारण हिन्दू-समाज में बाह्यविवाह के नियम टूट रहे हैं।

**6. अन्तर्जातीय विवाह (Inter-Caste Marriage)–** इसमें अलग-अलग जाति के पुरूषों एवं स्त्रियों का मेल होता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार यह प्रथा प्राचीन भारत में भी विद्यमान था। आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण अन्तर्जातीय विवाह का अत्यधिक महत्त्व हो गया है।

अन्तर्जातीय विवाह का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा समाज की कई बुराइयों का जैसे दहेज-प्रथा, अनुचित विवाह, पैसों के लिए बहु की प्रताड़ना, आदि का निराकरण हो सकता है।

इसके अवगुण के रूप में हम कह सकते हैं कि अन्तर्जातीय विवाह से विभिन्न जातियों की संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान में अन्तर हो जाता है, गैरकानूनी यौन-संबंध हो जाते हैं, शुद्धता अथवा पवित्रता का नाश होता है, आदि।

विवाह के विभिन्न प्रकारों की चर्चा के पश्चात् अब हम उन कारणों या शर्तो को देखेंगे जिनपर विवाह की सफलता निर्भर करती है।

### 7.3.3 उपविषय : विवाह की सफलता

विवाह की सफलता इस सामाजिक दर्शन पर निर्भर करता है कि स्त्री और पुरूष में प्यार का संबंध हो। दोनों एक दूसरे को लक्ष्य मानें, न कि साधन। दोनों ही निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे का सहयोग करें। विवाह रूपी संस्था का आधार केवल कानूनी, सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक स्वीकृति की भावना हो। दूसरे शब्दों में पति-पत्नी में एक प्रकार का आध्यामिक संबंध स्थापित हो। यदि दोनों एक दूसरे को हार्दिक रूप से स्वीकार करें तो यह विवाह रूपी संस्था का सबसे ठोस आधार होगा।

अतः वह प्रेम विवाह या वह किसी भी प्रकार का विवाह, विवाह की सफलता ऊपर वर्णित कारणों पर ही निर्भर करती है।

एक सफल और सुखी वैवाहिक जीवन समाज और देश की प्रगति में भी सहायक सिद्ध होता है।

### 7.3.4 उपविषय : तलाक

कई आधुनिक सभ्यताओं में "तलाक" को वैवाहिक संस्था का एक अंग माना गया है। विवाह स्त्री-पुरूष का समाज द्वारा स्वीकृत यौन-सम्बन्ध है जिसके अनुसार कुछ उद्देश्यों की पूर्ति होती है। मगर जब इन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है तो विवाह की सार्थकता नष्ट हो जाती है। इन हालतों में वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए तलाक की संस्था है।

अतः वैवाहिक संबंध को तोड़ देने की नियमित पद्धति का नाम ही तलाक है। तलाक द्वारा पति और पत्नी एक दूसरे से सदा के लिए अलग हो जाते हैं और उन्हें अपना घर बनाने का अधिकार होता है।

हिन्दू कानून के अन्तर्गत तलाक नामक किसी भी चीज का उल्लेख नहीं था। क्योंकि हिन्दू शास्त्र विवाह को कभी न टूटने वाला एक बंधन मानते हैं। तलाक की प्रथा केवल निम्न जाति या मुसलमानों के बीच पायी जाती थी। किन्तु, 1955 के Hindu Marriage Act के अन्तर्गत हिन्दू औरतों को भी अपने पति को तलाक देने का अधिकार दिया गया। Section-3 के आधार पर तलाक मिल सकता है–

(1) If he is living in adultery – यदि वह व्यभिचारी है।

(2) If he has ceased to be a Hindu by Conversion – यदि उसने धर्म-परिवर्तन किया हो और अब वह हिन्दू-धर्म का नहीं है।

(3) If he has been incurably of unsound mind for a continuous period of 3 years – यदि वह तीन साल से अधिक समय तक लगातार लाइलाज पागलपन की स्थिति में है।

(4) If he has renounced world by entering into a religious order, etc – यदि वह सन्यासी बनकर किसी धार्मिक संस्था में प्रवेश कर चुका है।

मुसलमानों में भी तलाक की व्यवस्था है।

तलाक को लेकर तीन विचार प्रचलित हैं–

**(1) परम्परावादी मत (Traditional View)**– इस मत के अनुसार विवाह केवल आपसी समझौता नहीं बल्कि संस्कार रूप है। विवाह केवल शारीरिक संबंध नही वरन् दो आत्माओं का संबंध है। यह संबंध जन्म-जन्मान्तर तक रहता है। इसलिए दो प्राणियों में जो वैवाहिक बन्धन में बँध चुके हैं, सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होना चाहिए। इनके अनुसार तलाक से पारिवारिक जीवन में अस्त-व्यस्तता आ जाती है। बच्चों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। अत: तलाक मान्य नहीं है।

**(2) मौलिक मत (Fundamentalist View)**– इस मत के अनुसार विवाह मनुष्य के व्यक्ति जीवन से सम्बन्धित है। यह दो व्यक्तियों में एक समझौता है। अत: यदि पति-पत्नी की इच्छा हो तो सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक लेने में कोई आपत्ति नहीं है। रूस में यह प्रथा प्रचलित है। मगर वास्तव में यह विचार उचित नहीं लगता है क्योंकि यदि छोटी-छोटी बातों में लोग तलाक लेने लगेंगे तो परिवार में स्थायित्व नहीं रह जाएगा और बच्चों पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

**(3) उदार मत (Liberal View)**– यह उपर्युक्त दोनों मतों का विरोध करते हुए कहता है कि तलाक की अनुमति होनी चाहिए लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में ही। सर्वप्रथम तो प्रयत्न करना चाहिए कि पति-पत्नी में प्रेमभाव बढ़े तथा हर प्रकार से यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि उनके बीच समझौता हो जाए। पर इसके बावजूद यदि पति-पत्नी चाहें तो तलाक की अनुमति मिलनी चाहिए। यह मत पहले दोनों मतों का समन्वय है।

साधारणत: लोग अनुपयुक्त विवाह की समस्याओं के समाधान के लिए तलाक को उपयुक्त मानते हैं, मगर जैसा कि सुश्री वैलर (Waller) ने अपनी पुस्तक, "The old love and the New" और सुश्री ग्रोव्स (Groves) ने अपनी पुस्तक, "Marriage" में बताया है कि तलाक के बाद भी लोगों की बड़ी बुरी दशा हो जाती है।

अत: जहाँ तक हो सके, तलाक से लोगों को बचाना चाहिए।

### 7.3.5 उपविषय : निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि यद्यपि तलाक के द्वारा औरतों में समानता तथा स्वतंत्रता की भावना का उद्‌भव हुआ है किन्तु यह अवश्य कहना है कि तलाक जल्दबाजी में नहीं होना चाहिए; क्योंकि तलाक का पारिवारिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। पति-पत्नी का आपसी प्रेम एवं सहयोग ही सुखी परिवार का आधार है।

## 7.4 सारांश

इस प्रकार हमने देखा कि संतान प्रजनन और परिवार स्थापित करने की समाज द्वारा स्वीकृत पद्धति को विवाह कहते हैं। अत: विवाह एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था है। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि विवाह एक पवित्र कर्म है। कहा जाता है कि विवाह स्वर्ग में बनाए जाते हैं अर्थात् ईश्वर ही स्त्री-पुरूषों की वैवाहिक जोड़ियों को बनाता है। अत: हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम विवाह को ईश्वर की इच्छा मानते हुए एक सुखी और शांतिपूर्ण वैवाहिक जीवन व्यतीत करें ताकि तलाक का अवसर ही न आए। मगर यदि स्थिति कष्टदायी हो जैसे पागलपन, क्रूर व्यवहार, व्यभिचार, नपुंसकता, इत्यादि, तो तलाक के बारे में विचार किया जा सकता है।

## 7.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

विवाह, सामाजिक संस्था, संघ, समझौता, स्थायी सम्बन्ध, एक-विवाह, बहुविवाह, बहुभर्तृत्व, अन्तर्विवाह, बाह्यविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, आध्यात्मिक आवश्यकता, व्यभिचार, तलाक, स्त्री-पुरूष, पति-पत्नी, जैविक, सन्तान प्रजनन, परिवार, वैवाहिक सम्बन्ध।

## 7.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 7.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. विवाह-

   (क) एक सामाजिक संस्था है

   (ख) एक आर्थिक संस्था है

   (ग) एक राजनीतिक संस्था है

   (घ) ऊपर में से कोई नहीं

   **उत्तर - (क)**

2. तलाक की अनुमति-

   (क) मिलनी चाहिए

   (ख) नहीं मिलनी चाहिए

   (ग) विशेष परिस्थितियों में ही मिलनी चाहिए

   (घ) कभी नहीं मिलनी चाहिए

   **उत्तर - (ग)**

### 7.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विवाह के अर्थ वं उसकी महत्ता की चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 7.3.1)

2. विवाह की सफलता की शर्तो की चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 7.3.4)

3. तलाक का क्या अर्थ है? चर्चा करें।

### 7.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विवाह की परिभाषा दें तथा उसके विभिन्न प्रकारों की समीक्षा करें।

2. सामाजिक संस्था के रूप में विवाह और तलाक की समीक्षा करें।

## 7.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | अशोक कुमा वर्मा |
| 2. | समाज - दर्शन | – | Dr. Vatsgayan |
| 3. | भारतीय सामाजिक संस्थाएँ | – | G. K. Agarwal |
| 4. | An Introduction to Sociology | – | VidyaBhushan & D.R. Sachdeva |
| 5. | An Introduction Social Anthropology | – | D. N. Majumdar & T. N. Madan. |


❖❖❖❖

# निजी सम्पत्ति

पाठ संरचना


8.1 उद्देश्य

8.2 विषय-प्रवेश

8.3 मुख्य विषय - निजी सम्पत्ति का महत्त्व

- 8.3.1 उपविषय - सम्पत्ति का अर्थ एवं परिभाषा तथा उसका स्वरूप
- 8.3.2 उपविषय - निजी सम्पत्ति के प्रकार
- 8.3.3 उपविषय - निजी सम्पत्ति का उद्‌भव एवं विकास
- 8.3.4 उपविषय - निजी सम्पत्ति के विभिन्न सिद्धांत
- 8.3.5 उपविषय - निजी सम्पत्ति के अवगुण
- 8.3.6 उपविषय - निष्कर्ष

8.4 सारांश

8.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

8.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 8.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 8.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 8.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

8.7 प्रस्तावित पाठ


## 8.1 उद्देश्य

निजी सम्पत्ति की संस्था बहुत ही पुरानी है। निजी सम्पत्ति के अर्थ, उसके स्वरूप, उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में हमारे मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। इन सभी प्रश्नों के उत्तर जानने के उद्देश्य से ही इस पाठ की संरचना की गयी है। सर्वप्रथम हम ''सम्पति'' के सामान्य अर्थ एवं परिभाषा देखेंगे। इसके बाद हम सम्पत्ति के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे। फिर हम, निजी सम्पत्ति के उद्‌भव एवं विकास की चर्चा करेंगे। साथ ही साथ हम निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में दिए गए सभी सिद्धांतों की चर्चा करेंगे तथा निजी सम्पत्ति के गुण और अवगुण देखेंगे। अंत में हम निजी सम्पत्ति के गुण और अवगुण देखेंगे। अंत में हम निजी सम्पत्ति पर टिप्पणी करेंगे।

## 8.2 विषय प्रवेश

राज्य तथा सभ्यता के विकास में सम्पत्ति की धारणा का प्रमुख योगदान रहा है। ऐसा कहा जाता है कि निजी सम्पत्ति की संस्था तो राज्य के पहले से ही वर्त्तमान है। यहाँ मन में अनेक प्रश्न उठते हैं : जैसे- क्यों कोई व्यक्ति यह कहता है कि अमुक चीज उसकी है? कैसे हमें यह पता चलेगा कि अमुक वस्तु पर किसी विशेष व्यक्ति का ही अधिकार है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर को जानने के लिए हमें सम्पत्ति की अवधारणा का अर्थ एवं परिभाषा जानना आवश्यक है।

जैसा कि हम जानते हैं सम्पत्ति की आवश्यकता प्रत्येक मनुष्य को है। वर्त्तमान समय में सम्पत्ति मानव-जीवन तथा सामाजिक जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है। सम्पत्ति के अभाव में, इस संसार में जीना असंभव है। अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए, प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। अत: सम्पत्ति के अर्थ एवं स्वरूप को जानना, उसके विभिन्न प्रकार, गुण-अवगुण, आदि को जानना आवश्यक है।

## 8.3 मुख्य विषय : निजी सम्पत्ति का महत्त्व

सम्पत्ति की व्याख्या "अधिकारों की गठरी" (Bundle of rights) कहकर की जाती है। जो व्यक्ति का अपना है अर्थात् जिसपर उनका स्वामित्व है, वह सम्पत्ति है। स्वामित्व का अर्थ है, पूर्ण अधिकार।

सम्पत्ति के तीन मुख्य रूप हैं-निजी, अर्ध-निजी और सार्वजनिक सम्पत्ति (private, quasi-public and property)।

जब व्यक्ति को कुछ वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त हो अर्थात् कानून के अन्तर्गत वह अपनी सम्पत्ति का अधिकारी हो और अपनी सम्पत्ति का नियंत्रण स्वयं करता हो, तो उसे निजी सम्पत्ति का नियंत्रण मनुष्य में सुरक्षा की भावना लाता है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास के नए रास्ते खोल देता है। इससे मनुष्य को शक्ति मिलती है ताकि वह अधिक से अधिक श्रम कर सके। कहा जाता है कि सम्पत्ति-हीन व्यक्ति की स्थिति गुलाम की तरह होती है। अत: व्यक्ति के पास निजी सम्पत्ति का होना आवश्यक है।

मगर, निजी सम्पत्ति के गुण अथवा अवगुण देखने से पूर्व हमें सम्पत्ति के अर्थ, स्वरूप, प्रकार, आदि के बारे में भली भाँति जान लेना आवश्यक है।

### 8.3.1 उपविषय : सम्पत्ति का अर्थ एवं परिभाषा तथा उसका स्वरूप

सम्पत्ति की धारणा की ठोस परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसका वास्तविक स्वरूप एवं अर्थ लोगों के सामाजिक एवं आर्थिक दर्शन पर आधारित है।

सम्पत्ति केवल आर्थिक धारण ही नहीं है, अपितु कानूनी धारणा भी है। किसी भी वस्तु को तभी सम्पत्ति मान सकते हैं जब वह उपयोगी होने के साथ-साथ हस्तान्तरित भी की जाती है। इसके अतिरिक्त, वह वस्तु माँग की तुलना में दुर्लभ होनी चाहिए, तभी उसे सम्पत्ति में वे वस्तुएँ शामिल की जा सकती हैं अथवा वे सेवाएँ सम्मिलित होती हैं, जिनपर व्यक्ति का निजी अधिकार होता है तथा इस अधिकार को समाज स्वीकार करता है।

सम्पत्ति को अंग्रेजी में "Property" कहते हैं जो कि लैटिन (Latin) शब्द "Propriates" से निकला है जिसका अर्थ होता है अपना (One's own), नजदीक या समीप। इसलिए जो व्यक्ति के समीप हो या उसका अपना हो वही उसकी सम्पत्ति हुई। जिस पर व्यक्ति का स्वामित्व है, वही सम्पत्ति है।

डा० आशीर्वादम् का कहना है, "वस्तु पर मनुष्य का नियंत्रण (Control) तथा, भौतिक पदार्थों के नियोजन (appropriation) को जिसे समाज ने स्वीकृति दे दी हो, सम्पत्ति कहा जा सकता है।

जे० आर० ल्यूकाच के शब्दों गें, "निजी सम्पत्ति कुछ वस्तुओं के उपभोग या उन वस्तुओं को किन्हीं दूसरे व्यक्तियों को देने का अधिकार है। यदि गैं किसी वस्तु का स्वागी हूँ तो गुझे इसके प्रयोग करने की स्वतंत्रता है तथा अन्य व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे मेरी अनुमति के बिना इसका प्रयोग न करें। गुझे यह भी अधिकार है कि यदि गैं चाहूँ तो उस वस्तु के उपभोग या स्वामित्व के बारे में अपने समस्त या कुछ अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को दे दूँ।

ई० वी० होल का कहना है, "सम्पत्ति उन अधिकारों, उत्तरदायित्वों विशेषाधिकारों तथा बन्धनों से सम्बन्धित अवधारणा का नाग है जो किसी समाज गें किरी मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती है।

अत: ऊपर लिखित परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि सम्पत्ति के दो प्रमुख लक्षण हैं-

(1) स्वामित्व अथवा पूर्ण अधिकार

(2) इस अधिकार का उपभोग करना, मगर सामाजिक कल्याण की भावना के अधीन रहकर।

**सम्पत्ति के स्वरूप की प्रमुख बातें।**

'सम्पत्ति' की धारणा की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :-

(i) सम्पत्ति एक निजी मामला है। सम्पत्ति का पहला प्रमुख लक्षण है स्वामित्व (Ownership) स्वामित्व का अर्थ है अपना पूर्ण अधिकार। पूर्ण अधिकार का अर्थ है कि कानून की सीमा के अन्तर्गत हम किसी भी प्रकार से वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं, उसे बेच सकते हैं, बन्धक रख सकते हैं, दूसरों को दे सकते हैं, आदि।

(ii) सम्पत्ति एक सार्वजनिक मामला भी है। नगरपालिका, स्थानीय तथा राज्य सरकार की सम्पत्ति, रोड, पुल,, पार्क, अस्पताल, मंदिर, रेल आदि सभी सार्वजनिक सम्पत्ति हैं।

(iii) सम्पत्ति का व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों ही पक्ष है। जहाँ सम्पत्ति व्यक्ति के निजी स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार करता है, वहीं यह भी कहा जाता है कि व्यक्ति का यह अधिकार समाज द्वारा मान्य हो तथा राज्य को भी यह अधिकार है कि वह निजी सम्पत्ति पर टैक्स लगा दे या राष्ट्रीयकरण का कानून लागू कर सके आदि।

(iv) हस्तांतरणीयता (Transferability) भी सम्पत्ति का आवश्यक तत्व है।

(v) वैधानिक मान्यता (Legal Acceptance) भी सम्पत्ति का आवश्यक तत्व है।

**8.3.2 उपविषय : सम्पत्ति के प्रकार**

मुख्य रूप से सम्पत्ति के तीन प्रकार हैं-

(i) निजी सम्पत्ति (Private Property)

(ii) अर्द्ध निजी या अर्द्ध सार्वजनिक (Quasi Private or Quasi Public)

(iii) सार्वजनिक सम्पत्ति (Public Property)

जब व्यक्ति को कुछ वस्तुओं का स्वामित्व प्राप्त हो अर्थात् कानून के अन्तर्गत वह अपनी सम्पत्ति का अधिकारी है और अपनी सम्पत्ति का नियंत्रण स्वयं करता है, तो वह उसकी निजी सम्पत्ति है। हालाँकि, समाज के स्वरूप में परिवर्तन के साथ-साथ निजी सम्पत्ति की धारणा में भी परिवर्तन हुआ है। सबसे प्रमुख परिवर्तन यह हुआ है कि आधुनिक युग में निजी सम्पत्ति उपाय का एक स्रोत बन गया है।

कल्याणकारी राज्य के उद्भव के साथ ही सम्पत्ति के नए रूप भी सामने आए हैं। सरकार निजी उद्योगपतियों

(Private enterpreneurs) को अनुमति (license) देती हैं कि वे कुछ उद्योगों का संचालन करें। सरकार के पास कई एकड़ जमीन होती है जिन्हें सरकार निजी सम्पत्ति को Quasi Private या Quasi Public Property कहते हैं।

इसके अतिरिक्त वह भी सम्पत्ति होती है जिस पर राज्य का अधिकार होता है; जैसे रोड, पुल, पार्क, अस्पताल, मंदिर, रेल, जिन्हें Public Provperty कहते हैं तथा जिनपर सबका समान अधिकार होता है।

### 8.3.3 उपविषय : निजी सम्पत्ति का उद्‌भव एवं विकास

यह सोचना अनुचित होगा कि मानव-जाति की शुरूआत में ही निजी सम्पत्ति का उद्‌भव हो गया था। कई हजार वर्षो तक मनुष्य प्राचीन साम्यवादी समाज में रहता था। यहाँ सम्पत्ति सामान्य थी, निजी सम्पत्ति का कोई नामोनिशान नहीं था। एंजेल्स, स्पेन्सर, रीमर्स, हाब्स, आदि इस विचार के समर्थक हैं।

निजी सम्पत्ति की शुरूआत एवं विकास तब हुआ जब पशुपालन (Animal Husbandary), कृषि (Agriculture) और मुद्रा (Currency) का विकास हुआ। भूमि निजी होने लगी। सम्पत्ति की चाह सभ्यता की विशेषता हो गयी तथा निजी सम्पत्ति का स्वामित्व सभ्यता का आधार बन गया। उत्पादन के तरीकों के विकास के साथ ही सम्पत्ति का स्वरूप भी बदल गया। उद्योग तथा मशीनों के लिए पूँजी की आवश्यकता थी। लोगों के पास जो था उन्होंने उसे खर्च कर डाला, इसी प्रकार उनकी पूँजी ने निजी तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण कर लिया।

धीरे-धीरे, जैसे समाज का विकास हुआ और लोगों में चेतना की जागृति हुई; व्यक्तिगत सम्पत्ति ने पूँजीवाद का रूप धारण कर लिया। पूँजीवाद से छुटकारा दिलाने के लिए समाजवाद का जन्म हुआ जिसके अनुसार सम्पत्ति किसी एक के लिए नहीं वरन् यह सम्पूर्ण समाज के लिए है।

### 8.3.4 उपविषय : निजी सम्पत्ति के विभिन्न सिद्धांत

निजी सम्पत्ति को लेकर कई सिद्धांत दिए गए हैं-

1. **सम्पत्ति का उदार सिद्धान्त (Liberal Theory of Property)**– इस सिद्धांत के समर्थक लॉक, लास्की, इल्यादि ने निजी सम्पत्ति की धारणा का समर्थन निम्नलिखित आधारों पर किया-

**(क) मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological Basis)–**

उदारवादियों की यह मान्यता है कि मनुष्य में स्वामित्व तथा आत्म-संरक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। संपत्ति प्रेरणा का स्रोत है। मनुष्य परिश्रम इसलिए करता है क्योंकि वह पुरस्कार एवं स्वामित्व की भावना से प्रेरित होता है।

**(ख) निजी सम्पत्ति का नैतिक आधार (Moral Basis)–**

नैतिक आधार पर निजी संपत्ति का समर्थन करनेवाले जैसे मिल, कांट, ह्यूम के अनुसार संपत्तिधारी को आत्म संतुष्टि (Self-satisfaction) प्राप्त होती है और उनमें कार्य करने की क्षमता, लगन तथा अनेक मानवीय गुणों का विकास होता है।

**(ग) निजी सम्पत्ति का आर्थिक आधार (Economic Basis) –**

ऐडम स्मिथ तथा रिकार्डो (Adam Smith and Ricardo) के अनुसार प्रतियोगिता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में में प्रगति का साधन है। उनके अनुसार आर्थिक स्वतंत्रता से वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा, कीमतें, माँग तथा मजदूरी की दर, आदि मुक्त प्रतियोगिता के आधार पर स्वयं निश्चित हो जाते हैं।

**(घ) निजी सम्पत्ति का ऐतिहासिक आधार (Historical Basis)–**

उदारवादी विचारकों ने ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर भी निजी सम्पत्ति का समर्थन किया। उन्होंने अनेक

देशों के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि अ-हस्तक्षेप की नीति का पालन करनेवाले अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी तथा फ्रांस जैसे देशों ने पर्याप्त आर्थिक, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास किया।

**2. सम्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxist Theory of Property)**– मार्क्सवादी सिद्धांत एक क्रान्तिकारी सिद्धांत है जो निजी सम्पत्ति की संस्था का नाशकर वर्ग विहीन तथा राज्य विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। मार्क्सवादी निजी सम्पत्ति के कट्टर विरोधी हैं। उनके अनुसार निजी सम्पत्ति श्रम का पुरस्कार नहीं, वरन् शोषण (Exploitation) का परिणाम है। मार्क्सवादी के अनुसार सम्पत्ति का समाजीकरण आवश्यकता है। संपत्ति पर किसी का निजी अधिकार न होकर सामान्य अधिकार होना चाहिए।

रूस, चीन, पोलैंड, हंगरी जैसे साम्यवादी देशों में संपत्ति के निजी अधिकार को मान्यता बहुत कम है। यहाँ दो प्रकार की संपत्ति होती है-

(i) राष्ट्रीय संपत्ति जो उत्पादन के मुख्य साधनों का राष्ट्रीयकरण होने पर अस्तित्व में आती है तथा देश की सारी जनता के नाम पर राज्य उसका स्वामी होता है।

(ii) दूसरी सामूहिक सम्पत्ति होती है जिसके स्वामी किसान, मजदूर, आदि होते हैं जो सामाजिक स्तर पर अनेक सामूहिक संघ बना लेते हैं तथा संपत्ति का संचालन करते हैं।

साम्यवादी देशों में श्रम तथा उपभोग के सम्बंध इन शब्दों में स्पष्ट होते हैं-"प्रत्येक को योग्यता के अनुसार कार्य करना होगा तथा आवश्यकता के अनुसार दिया जायेगा।"

**3. व्यक्तिवादी सिद्धांत (Individualistic Theory)**– इस सिद्धांत के अनुसार मुनष्य सर्वोच्च प्राणी है और उसे यह पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास कर सके तथा धन का उपार्जन कर सके।

**4. अधिकारों का सिद्धांत (Theory of Rights)**– इस सिद्धांत के अनुसार मेरे द्वारा उपभोग करनेवाली सारी वस्तुएँ मेरी हैं और इस पर मेरा अधिकार है जिसे समाज को मान्यता देनी चाहिए। अतः प्रत्येक मनुष्य को निजी संपत्ति का अधिकार होना चाहिए। किन्तु, यदि इस सिद्धांत को माना गया तो समाज की शांति भंग हो जाएगी।

रूसो (Rousseau) के अनुसार-

(i) भूमि पर किसी का भी स्वामित्व नहीं होना चाहिए।

(ii) उतना ही कमाना चाहिए जिससे हमारी जरूरतें पूरी हों।

(iii) श्रम ही अधिकार का आधार होना चाहिए।

**5. वैधानिक सिद्धांत (Legal Theory)**– लॉक के अनुसार हमें व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार इसलिए होना चाहिए क्योंकि इसे कानून ने स्वीकृति दी है। किन्तु, केवल कानून ही संपत्ति को न्यायसंगत नहीं कर सकता है।

**6. आदर्शवादी सिद्धांत (Idealist Theory)**– इस सिद्धांत के अनुसार संपत्ति व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। किन्तु, ऐसा सिद्धांत मनुष्य को स्वार्थी बना देता है और उसे समाज से अलग कर देता है।

**7. श्रम सिद्धांत (Labour Theory)**– इस सिद्धांत के अनुसार जो श्रम करता है उसे संपत्ति प्राप्त करने का भी अधिकार है। किन्तु, यह सिद्धांत इसलिए उचित नहीं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता एवं क्षमता अलग-अलग है और इससे लोगों में हीन-भावना उत्पन्न हो जायेगी।

**8. समाजवादी सिद्धांत (Socialist Theory)**– इस सिद्धांत के अनुसार निजी सम्पत्ति की व्यवस्था सामाजिक शुभ के अधीन होना चाहिए। यह पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करता है और संपत्ति की संस्था को सामूहिक हित के साथ जोड़ देता है।

इस प्रकार, हमने निजी सम्पत्ति के विभिन्न सिद्धांतों की समीक्षा की। अब हम निजी सम्पत्ति की धारणा का मूल्यांकन करेंगे।

### 8.3.5 उपविषय : निजी संपत्ति के गुण

निजी सम्पत्ति को मानने वालों का कहना है कि निजी सम्पत्ति मनुष्य में सुरक्षा की भावना लाती है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में नये रास्ते खोल देती है। निजी सम्पत्ति मनुष्य के आत्म-विकास तथा आत्म-प्रकाशन का साधन है। निजी सम्पत्ति श्रम करने की प्रेरणा है। सम्पत्ति के उपार्जन के लिए अधिक से अधिक श्रम करने की प्रेरणा मिलती है। इससे उत्पादन बढ़ता है और उससे समाज को लाभ मिलता है। निजी सम्पत्ति रहने पर मनुष्य भविष्य की चिन्ता से मुक्त हो जाता है। इन विचारकों का कहना है कि सम्पत्ति-हीन व्यक्ति की स्थिति एक गुलाम की तरह होती है। प्राचीन समय में अरस्तू ने निजी सम्पत्ति की धारणा को इसलिए मान्यता दी क्योंकि इससे लोगों को शक्ति मिलती है और वे उदारवादी तथा दयालु होते हैं। व्यक्तिवादी जैसे मिल और रिकार्डो का कहना है कि संपत्ति अधिक संपत्ति के उत्पादन की प्रेरणा का स्रोत हैं। लॉक श्रम के सिद्धांत को मानते हैं। उनके अनुसार संपत्ति लोगों का प्राकृतिक अधिकार है। हेगेल, ग्रीन के अनुसार, व्यक्ति की योग्यता के विकास में संपत्ति का प्रमुख योगदान किया जाए।

### 8.3.6 उपविषय : निजी संपत्ति के अवगुण

निजी संपत्ति की धारणा की कटु आलोचना हुई है। तपस्वियों के अनुसार संपत्ति अशुभ के अस्तित्व का स्रोत है। प्लेटो ने भी निजी संपत्ति की धारणा का खंडन किया तथा साम्यवादी संपत्ति की धारणा का विकास किया।

निजी संपत्ति मानव की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन होती है पर अधिकतर संपत्ति जीवन के मनोरंजन का साधन बन जाती है। इससे मनुष्य में आलस्य की भावना आ जाती है और वह श्रम से कतराने लगता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह शोषण पर आधारित है और पूँजीवाद को जन्म देती है। निजी संपत्ति व्यक्तियों में आर्थिक विषमता उत्पन्न करती है। आर्थिक विषमता समाज में शोषण उत्पन्न करती है। अधकितर योग्यता, असाधारण अवसर या विरासत में प्राप्त संपत्ति से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार, समाज में दो भिन्न आर्थिक वर्ग हो जाते हैं-धनी और निर्धन। धनी पूँजी का स्वामी हो जाता है और उत्पादन वितरण का स्वामी। वह अपने लाभ के लिए श्रमिकों का शोषण करता है। इसलिए निजी संपत्ति शोषण पर आधारित होकर पूँजीवाद को जन्म देती है।

उन्नीसवीं सदी में अराजकतावादियों ने संपत्ति की धारणा की कड़ी आलोचना की। प्रौंधों (Proudhon) ने संपत्ति को "श्रम की चोरी" (Theft of Labour) कहा है। मार्क्स ने भी निजी सम्पत्ति को शोषण का स्रोत माना है। समाजवादी भी निजी संपत्ति के विरूद्ध हैं।

निजी संपत्ति की धारणा की इसलिए भी आलोचना हुई हैं, क्योंकि संपत्ति का देश की राजनीति पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार, निजी सम्पत्ति में कई अवगुण हैं।

### 8.3.7 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार हमने देखा है कि निजी सम्पत्ति के अनेक गुण तथा अवगुण हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्पत्ति की धारणा को मनुष्य के कर्मो तथा जिम्मेदारियों के साथ जोड़ देना चाहिए। यदि सम्पत्ति से सम्बंधित अधिकार तथा कर्त्तव्य का पालन किया जाए तो निजी सम्पत्ति के अवगुण दूर हो जाएंगे।

डा० आशीर्वादम् का कहना है, "If a Ford or a Rockfeller is able to use his wealth in the service of mankind, we would let him have it. If on the other hand, he uses it for utterly selfish ends or alfsses it in other ways, we would, by means of laws or public opinin, or by both, make it impossible for him to hold it."

## 8.4 सारांश

इस प्रकार, हमने देखा कि निजी सम्पत्ति की धारणा की शुरूआत एवं विकास तब हुआ जब पशुपालन, कृषि और मुद्रा का विकास हुआ। निजी सम्पत्ति के औचित्य को लेकर कई सिद्धांत दिए गए हैं। जिन विचारकों के अनुसार निजी सम्पत्ति उचित है उनका कहना है कि निजी सम्पत्ति मनुष्य तथा समाज के विास में योगदान देती है। मगर जो निजी सम्पत्ति की धारणा का निषेध करते हैं उनके अनुसार निजी सम्पत्ति का अंत हो जाना चाहिए क्योंकि इससे समाज में असमानता तथा शोषण का उद्‌भव होता है।

इस प्रकार, दोनों पक्षों ने निजी सम्पत्ति के गुण-अवगुण के बारे में अपना विचार दिया है। मगर विचारकों के अपने जो भी विचार हैं, यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि निजी सम्पत्ति मनुष्य में सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में भी सहायक सिद्ध होती है। इससे मनुष्य श्रम के लिए प्रेरित होता है। अत: निजी सम्पत्ति कोई बुराई नहीं है। करना केवल यह है कि संपत्ति की धारणा को मनुष्य के कर्मो तथा जिम्मेदारियों के साथ जोड़ देना चाहिए। निजी संपत्ति यदि शोषण का कारण न बने तो इसमें कोई बुराई नहीं है।

## 8.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

निजी सम्पत्ति, सार्वजनिक, अर्द्ध-सार्वजनिक, संस्था, स्वामित्व सभ्यता, निजी मामला, प्राचीन समाज, पूँजी, क्रांति पूँजीवाद, व्यक्तित्व, श्रम, समाजवादी सिद्धांत, समर्थक, सुरक्षा, जिम्मेदारियों, साम्यवाद, उत्पादन, प्रेरणा, सामाजिक शुभ योग्यता, क्षमता, न्याय-संगत।

## 8.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 8.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. सम्पत्ति-

(क) निजी मामला है

(ख) सार्वजनिक मामला है

(ग) निजी और सार्वजनिक दोनों है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

2. निजी सम्पत्ति मनुष्य को-

(क) सुरक्षा एवं श्रम करने की प्रेरणा देती है

(ख) कोई सुरक्षा नहीं देती है

(ग) श्रम के लिए प्रेरित नहीं करती है

(घ) स्वार्थपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति कराती है।

उत्तर - (क)

### 8.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सम्पत्ति के अर्थ एवं स्वरूप की व्याख्या करें।

   (उत्तर - उपविषय 8.3.1 और 8.3.2)

2. सम्पत्ति के विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं? चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 8.3.3)

3. निजी संपत्ति के गुणों एवं अवगुणों की समीक्षा करें।

   (उत्तर - उपविषय 8.3.5 और 8.3.6)

### 8.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. निजी सम्पत्ति क्या है? निजी सम्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धांतों की चर्चा करें।
2. निजी संपत्ति की संस्था की समीक्षा करें।

## 8.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | अशोक कुमा वर्मा |
| 2. | Contemporary Political Theory | – | J. C. Johari |
| 3. | राजनीति सिद्धांत | – | M. P. Jain |
| 4. | An Introduction to Sociology | – | VidyaBhushan & D.R. Sachdeva |


❖❖❖❖

# ट्रस्टीशिप या संरक्षता का सिद्धांत

पाठ संरचना


9.1 उद्देश्य

9.2 विषय-प्रवेश

9.3 मुख्य विषय - संरक्षता के सिद्धांत के पीछे की धारणा

- 9.3.1 उपविषय - संरक्षता के सिद्धांत की प्रमुख बातें
- 9.3.2 उपविषय - मार्क्सवाद और गाँधीवाद में तुलना
- 9.3.3 उपविषय - संरक्षता-सिद्धांत के गुण
- 9.3.4 उपविषय - संरक्षता-सिद्धांत के अवगुण
- 9.3.5 उपविषय - निष्कर्ष

9.4 सारांश

9.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

9.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 9.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 9.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 9.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

9.7 प्रस्तावित पाठ


## 9.1 उद्देश्य

संरक्षता अथवा टस्ट्रीशिप का सिद्धात गाँधीजी ने दिया था। समाज में व्याप्त आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए तथा धन का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के लिए करने के लिए तथा धन का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के लिए करने के उद्देश्य से ही गाँधीजी ने टस्ट्रीशिप का सिद्धांत दिया। प्रश्न यह उठता है कि क्या टस्ट्रीशिप गाँधीजी के द्वारा दिया गया कोई नया विचार है या यह एक पुरानी धारणा है। इसके अतिरिक्त यह भी जानना आवश्यक है कि गाँधीजी ने टस्ट्रीशिप के सिद्धांत में क्या कहना चाहा है। इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए इस पाठ की संरचना की गयी है। सर्वप्रथम, हम टस्ट्रीशिप का अर्थ देखेंगे। उसके बाद हम इस सिद्धांत की प्रमुख बातों की चर्चा करेंगे। तीसरे में हम मार्क्सवाद तथा गाँधीवाद की तुलना करेंगे। अंत में हम संरक्षता के सिद्धांत के गुण तथा अवगुण की चर्चा करेंगे। अंत में हम, संरक्षता के सिद्धांत पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगें।

## 9.2 विषय-प्रवेश

गाँधीजी के आर्थिक दर्शन में सबसे महत्त्वपूर्ण तथा सबसे विवादास्पद पक्ष है, उनका टस्ट्रीशिप या संरक्षता का सिद्धांत (Theory of Trusteeship)। समाज में व्याप्त आर्थिक विषमताओं को दूर करने के लिए तथा धन का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के लिए हो, इसके लिए, जो उपाय गाँधीजी ने निकाला, वह संरक्षता का सिद्धांत कहलाया।

गाँधीजी के बारे में तो हम यह जानते ही हैं कि वे सुव्यवस्थित तत्त्ववेता (Systematic Philosopher) या सच्चे अर्थो में कोई राजनीतिज्ञ तथा अर्थशास्त्री नहीं थे, वरन् वे भारत की विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर अपने विचार को देते रहते थे। जैसा कि डा० बी० पी० वर्मा ने लिखा है, "गाँधीजी एक उच्च कोटि के राष्ट्रीय नेता, पैगम्बर और शिक्षक थे। उन्होंने समाज के पुनर्निमाण और मनुष्य के उत्थान के लिए कुछ मौलिक विचारों पर बल दिया। इस रूप में उनको नैतिक और राजनीतिक विचारक माना जाता है, परंतु शंकराचार्य या जर्मन फिलास्फर कांट की तरह के उच्च कोटि के तत्त्ववेत्ता (Philosopher) नहीं थे।

जहाँ तक ट्रस्टीशिप सिद्धांत के स्रोत का प्रश्न उठता है हम कह सकते हैं कि यह एक प्राचीन सिद्धांत है जो St. Ambrose तथा अन्य Patriestic दार्शनिकों के समय से जाना जा रहा है। किन्तु गाँधीजी की संरक्षता के सिद्धांत का आधार है-गाँधीजी का कानून संबंधी अध्ययन, Snell के समानता का सिद्धांत तथा गीता का अपरिग्रह का विचार। गाँधीजी ने संरक्षता के नैतिक विचार को सामाजिक और आर्थिक स्वरूप प्रदान किया।

इसप्रकार, गाँधीजी का संरक्षता-सिद्धांत निजी सम्पत्ति का अहिंसात्मक तरीके से अंत करना चाहता है तथा धन का प्रयोग सार्वजनिक कल्याण के लिए करना चाहता है।

## 9.3 मुख्य विषय : संरक्षता सिद्धांत के पीछे की धारणा

गाँधीजी का यह विचार था कि इस धरती के पास इतनी संपदा है कि यह विश्व के सभी लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। किन्तु, मानव की भौतिक सुख के प्रति तृष्णा ने धन को कुछ ही लोगों के हाथों में संचित कर डाला है। इसके फलस्वरूप अधिकांश लोग गरीबी, भूखमरी, रोग, दु:ख से पिड़ित हैं। गाँधीजी का कहना था- "Every man has a right to have a balanced diet, a decent house to live in, facilities for the education of one's children and adequate medical relief."

अत: गाँधीजी का कहना था कि जो धनिक हैं- पूँजीवादी अथवा जमींदार हैं, वे स्वेच्छा से अपना कर्तव्य समझकर अपना धन सर्वसाधरण के हित के लिए लगायें और अपने को निर्धनों का अभिभावक (Trustee या ट्रस्टी) समझें। उनका कहना था-

"My ideal is equal distribution but so long as I can see, it is not to be realised. I, therefore, work for equitable distribution."

संपत्ति तथा धन के संबंध में गाँधीजी का यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि सारी सम्पत्ति ईश्वर की है। इसमें मेरी और दूसरे की सम्पत्ति की सीमा नहीं है। इसलिए निजी सम्पत्ति का कोई अर्थ नहीं है और उसके मनमाने उपभोग करने की छूट किसी को नहीं है। अपनी आवश्यकतानुसार खर्च कर लेने के बाद बचा हुआ धन समाज के हित में खर्च करना चाहिए। गाँधीजी के अनुसार कोई भी व्यक्ति धन का स्वामी नहीं, मात्र संरक्षक है।

इस प्रकार, गाँधीजी के संरक्षता सिद्धांत के पीछे जो धारणा थी वह यह कि धन का समान वितरण हो तथा जिनके पास अधिक धन है वे समाज के हित में अपने धन को खर्च करें।

### 8.3.1 उपविषय : संरक्षता के सिद्धांत के प्रमुख लक्षण

गाँधीजी के अनुसार कोई भी व्यक्ति धन का स्वामी नहीं, मात्र संरक्षक है। अत: अपनी आवश्यकतानुसार खर्च कर लेने के बाद बचा हुआ धन समाज के हित में खर्च करना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि ''आवश्यकता-भर'' का क्या अर्थ है? हर व्यक्ति की आवश्यकता अलग-अलग होती है। किसी के लिए एयर-कंडीशनर या फिर किसी अन्य के लिए मात्र भर-पेट भोजन। गाँधीजी ने इसके संबंध में संयम की चर्चा की है। उनके अनुसार शरीर केवल भोग-प्रप्ति के लिए ही नहीं, वरन् सेवा के लिए प्राप्त हुआ है। इसलिए आवश्यकता सीमित करते जाना चाहिए। अत: आवश्यकताओं के संबंध में उनका विचार साम्यवादी है। संयमी जीवन बिताते हुए यदि कोई व्यक्ति जो धन कमाए और उसमें से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, जो बचे उसका वह संरक्षक बन जाए, तो समाज से विषमता दूर हो जाए। अब प्रश्न यह उठता है कि समाज के हित में धन खर्च करने का क्या अर्थ है। गाँधीजी के अनुसार समाज के हित में खर्च करने का यह अर्थ नहीं है कि अतिरिक्ति धन को अन्य जरूरतमंद लोगों में बराबर बाँट दिया जाए। समाज के हित में खर्च करने का अर्थ है ऐसे उद्योगों एवं व्यवसायों में धन लगाना जिसमें अधिक से अधिक लोगों को रोजगार मिले और वे शारीरिक श्रम करके अपनी आजीविका उपार्जन कर सकें। धन का संरक्षक बनने का गाँधीजी का यही तात्पर्य था।

गाँधीजी की ट्रस्टीशिप व्यवस्था में मुनाफे के प्रयोजन का अभाव होगा। संरक्षकों को सामान्य सहमति के द्वारा उनके काम के लिए मुआवजा दिया जाएगा। संरक्षकों को अन्य कारीगरों के समान ही वेतन मिलेगा। इस प्रकार ये संरक्षक अपनी कार्य-कुशलता और क्षमता से समाज की प्रगति में सहायक सिद्ध होंगे। इस प्रकार, आज तक जो पूँजीवादियों और कामगारों में विषमता रही है, वह खत्म हो जाएगी और कामगारों को पर्याप्त भोजन, कपड़े, शिक्षा, आदि प्राप्त होंगे।

इस प्रकार, संरक्षता का सिद्धांत पूँजीवाद या धनिकों को समाप्त करने का ध्येय नहीं रखता है। गाँधीजी साम्यवादी उपायों का विरोध करते थे, क्योंकि यह मार्ग हिंसामय है, और दूसरी बात, यह क्रांति के द्वारा पूँजीपति वर्ग को समाप्त कर देता है। यदि धनिकों को नष्ट कर दिया जाए तो हम उनकी धन संग्रह करने की चतुरता से वंचित हो जायेंगे। श्रमिकों को भी हिंसक उपायों से लाभ नहीं मिलेगा, क्योंकि सत्तारूढ़ होते ही वे इनका प्रयोग विरोधियों का दमन करने के लिए करेंगे। ''मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने का प्रयत्न किया तो वह स्वयं ही हिंसा के जाल में फँस जाएगा।'' इसलिए गाँधीजी का कथन था कि धनी लोग धन अपने पास रखें और अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के बाद शेष धन को समाज की धरोहर समझें। इस अविशिष्ट धन का प्रयोग समाज के लिए हो। धनी अतिरिक्त धन को सार्वजनिक निर्माण के कार्य जैसे तालाब बनाना, विद्यालय बनाना आदि कार्य में लगायेगा। जिनके पास अधिक भूमि है, वे अपनी भूमि को भूमिहीनों में वितरित करेंगे। धनी लोगों को यह विश्वास दिलाया जायेगा कि जो धन उनके पास है, वह जनता के श्रम का फल है।

धनी लोग यदि स्वेच्छा से अपना धन समाज को देने के लिए तैयार न हों, तब क्या किया जायेगा? साम्यवादी तो इसका उपाय हिंसा या क्राति के रूप में देंगे। लेकिन गाँधीजी के अनुसार यदि समाज के पूँजीपति धन त्यागने के लिए आगे न आये तो उन्हें अहिंसात्मक साधनों से जैसे-असहयोग तथा सत्याग्रह के द्वारा सन्मार्ग पर लाया जायेगा। कोई भी जमींदार या उद्योगपति बिना किसानों और श्रमिकों के सहयोग के न तो खेत जोत सकता है और न कारखाने चला सकता है। यदि मजदूर असहयोग करें तो पूँजीपतियों का एक काम भी नहीं हो पायेगा और उनकी आँखें खुल जायेंगी और वे ट्रस्टी बनाने के लिए तैयार हो जायेंगे।

इस प्रकार, गाँधीजी के संरक्षता सिद्धांत की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं-

(i) गाँधीजी का यह दृढ़ विश्वास था कि सभी मनुष्य समान हैं तथा सबों के बीच आय, उपभोग तथा जीवन की आवश्यकतओं को लेकर विषमता नहीं होनी चाहिए।

(ii) गाँधीजी को मनुष्य के स्वभाव के जो शुभ तत्व हैं उसमें पूर्ण विश्वास था। वे मानव-स्वभाव में परामर्शवाद,

नैतिक चेतना, आदि को स्वीकार करते थे। विचार तथा व्यवहार की अहिंसा उनके संरक्षण सिद्धांत का प्रमुख आधार थी।

(iii) ट्रस्टीशिप या संरक्षण का सिद्धांत पूँजीवादी व्यवस्था में परिवर्तन लाने तथा एक Equalitarian समाज की स्थापना का लक्ष्य रखता था।

(iv) यह निजी सम्पत्ति की धारणा का समर्थन नहीं करता है तथा उतनी ही सम्पत्ति की स्वीकृति देता है जो आवश्यक हो।

(v) उत्तराधिकारी रूप में प्राप्त सम्पत्ति के संबंध में भी गाँधीजी का यही विचार था कि वे सम्पत्ति का संरक्षक होंगे।

(vi) इस प्रकार, संरक्षता के सिद्धांत द्वारा आर्थिक समानता की स्थापना की बात की जा रही है। किन्तु, समानता से गाँधीजी का अर्थ यह नहीं है कि सबकी सम्पत्ति बराबर कर दी जाए। ऐसा करना प्रकृति के नियमों के विरूद्ध काम करना होगा। सबकी योग्यता भिन्न होती है, प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता का भरपूर उपयोग होना चाहिए। यह तभी संभव है जब सबको अपनी योग्यता के अनुसार संपत्ति अर्जन करने की छूट हो। पर उन्हें मनमाना खर्च करने की छूट नहीं होनी चाहिए। कमाने में उद्देश्य होना चाहिए-समाज के हित में खर्च करने का। ऐसा अहिंसात्मक साधनों से ही संभव है।

(vii) गाँधीजी के अनुसार ऐसी आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप सामाजिक आवश्यकता के द्वारा निर्धारित होगा न कि व्यक्तिगत इच्छा या लोभ के द्वारा।

इस प्रकार, गाँधीजी के मार्क्सवाद की अपनी विशेषताएँ हैं।

### 9.3.2 उपविषय : मार्क्सवाद तथा गाँधीवाद में तुलना

मार्क्स तथा गाँधी दोनों ही एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं, किंतु जहाँ मार्क्स क्रांति तथा वर्ग-संघर्ष की बात करते हैं वहां गाँधीजी इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों की बात करते हैं। गाँधीजी अहिंसा के पक्ष में इसलिए थे क्योंकि उनका कहना था कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को अहिंसा के द्वारा दबाने का प्रयत्न किया तो वह स्वयं ही हिंसा के जाल में फँस जाएगा। श्रमिकों को भी हिंसक उपायों से लाभ नहीं मिलेगा, क्योंकि सत्तारूढ़ होते ही वे इनका प्रयोग विरोधियों का दमन करने के लिए करेंगे।

गाँधीजी साध्य और साधन की पवित्रता में विश्वास रखते हैं जबकि मार्क्सवाद केवल साध्य की श्रेष्ठता में विश्वास करता है। हिंसात्मक क्रांति को सफल बनाने के लिए छल, कपट, धोखा, चालाकी, असत्य व्यवहार आदि को अपनाया जाता है। गाँधीजी षडयंत्रों से घृणा करते हैं तथा उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्तम साधन की आवश्यकता पर बल देते हैं।

गाँधीवाद प्रेम तथा अहिंसा का दर्शन है। गाँधीजी आध्यात्मिक जीवन को श्रेष्ठ मानते हैं तथा मनुष्य के नैतिक परिवर्तन में विश्वास रखते हैं। इसके विपरीत मार्क्सवाद वर्ग-घृणा, धर्म के प्रति घृणा, जाति, श्रेणी आदि के प्रति घृणा करना सिखलाता है।

मार्क्सवाद उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करने में विश्वास रखता है जबकि गाँधीजी पूँजीपतियों को सम्पत्ति या राष्ट्रीय धन का संरक्षक या ट्रस्टी मानते हैं।

मार्क्सवाद के विपरीत, गाँधीजी पूँजीवाद का अंत करना चाहते थे, पूजीवादियों का नहीं।

इस प्रकार, यद्यपि एक दृष्टि में ऐसा लगता है कि मार्क्स तथा गाँधी के विचार समान हैं किंतु, यह ठीक नहीं है क्योंकि दोनों के विचारों में बहुत अंतर है।

### 8.3.3 उपविषय : संरक्षण सिद्धांत के गुण

ट्रस्टीशिप अर्थव्यवस्था गाँधीजी की ही देन है। गाँधीजी का संरक्षण सिद्धांत अहिंसात्मक आधार पर निजी

सम्पत्ति के उन्मूलन का सिद्धांत है। इसलिए यह सिद्धांत पूँजीवाद तथा साम्यवाद दोनों का विरोध करता है। इसका पूँजीवाद से इस बात में विरोध है कि सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी ईश्वर है, समाज है। इसलिए उसपर एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का अधिकार नहीं हो सकता। कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति का केवल संरक्षक होता है। इसका साम्यवाद से अन्य बातों के अतिरिक्त मुख्य रूप से यह विरोध है कि इसके अनुसार समाज की विषमता को दूर करने का साधन अहिंसा है।

इसलिए यह सिद्धांत सामजवाद से उच्च सिद्धांत है, क्योंकि यह समाजवाद की तरह व्यक्ति के स्थान पर राज्य को महत्त्व नहीं देता है।

गाँधीजी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त समाज में समानता लाने का आदर्श प्रयास करता है। यह प्रेम तथा अहिंसा के द्वारा पूँजीपति अथवा धनिक वर्ग का हृदय परिवर्तन कर धन के समान वितरण का लक्ष्य रखता है।

### 8.3.4 उपविषय : संरक्षण सिद्धांत के अवगुण

राजनीतिक भाष्यकारों में गाँधीजी के संरक्षण-सिद्धांत की कटु आलोचना की है-

(क) आलोचकों का कहना है कि यह सिद्धांत मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखकर नहीं दिया गया है। गाँधीजी ने मनोवैज्ञानिक कारकों की शक्ति को नहीं पहचाना है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि मानव स्वाभाव में जो लोभ एवं परिग्रह की भावना है, वह बहुत ही तीव्र है और उससे मुक्त होना आसान नहीं है। मनुष्य स्वाभाव से ही लालची एवं स्वार्थी होता है और प्रत्येक मनुष्य से यह आशा रखना कि वह स्वेच्छा से अपना धन दूसरों के हित में समर्पित कर देगा, यह व्यर्थ है।

(ख) आलोचकों का कहना है कि गाँधीजी का यह विचार कि वे पूँजीवाद का अन्त करना चाहते हैं, पूँजीवादियों का नहीं, यह अर्थहीन, अबौद्धिक तथा विरोधात्मक विचार है। अगर पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त होगा, तो स्वभावत: पूँजीवादियों का भी अन्त हो जाएगा।

(ग) आलोचकों का कहना है कि गाँधीजी ने आर्थिक समस्याओं का कृत्रिम एवं अनैतिहासिक समाधान ढूँढ़ा है, क्योंकि उनका कहना है कि, आर्थिक समानता का अन्त पूँजीवादियों की नैतिक चेतना को जागृत करने से होगा। किन्तु, इतिहास गवाह है कि जमीन्दारी-प्रथा इत्यादि का उन्मूलन किस प्रकार से हुआ।

(घ) गाँधीजी ने अहिंसा तथा असहयोग के द्वारा देश में सामाजिक और आर्थिक समानता लानी चाही। किन्तु यदि हम विश्व में व्याप्त स्थिति का अध्ययन करेंगे तो पाएंगे कि बिना क्रांति, युद्ध, आदि के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता है।

(ङ) आलोचकों का कहना है कि गाँधीजी ने धनिकों को अपरिग्रह, आत्म-शुद्धि तथा सरलता की बात कही और उन्हें सामान्य शुभ का संरक्षक बनाना चाहा। किन्तु ऐसा होता है कि गाँधीजी ने अपरिग्रह और आत्म-शुद्धि के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर इस सिद्धांत की नींव डाली। अत: इस सिद्धांत का आधार व्यक्तिगत है तथा बिल्कुल ही ठोस आधार नहीं है।

(च) आलोचकों का कहना है कि गाँधीजी का यह सिद्धांत अव्यावहारिक तथा काल्पनिक है। अपने जीवन काल में गाँधीजी शायद ही किसी पूँजीपति को धन का संरक्षक बना सके।

(छ) आलोचकों का यह भी आक्षेप है कि यह सिद्धांत अत्यंत ही प्राचीन है तथा आधुनिक औद्योगिक समाज में अवरोधक है।

इस प्रकार आलोचकों ने संरक्षण सिद्धांत की कटु आलोचना की है।

### 9.3.5 उपविषय : निष्कर्ष

अत: निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि संरक्षता के सिद्धांत की स्थापना करना संभव नहा ह।

यही कारण है कि यह सिद्धांत अमूर्त, अव्यावहारिक, काल्पनिक (abstract, utopian unpractical ) प्रतीत होता है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सिद्धांत बिल्कुल ही व्यर्थ या अनुपयोगी है।

गाँधीजी के संरक्षता का सिद्धांत धनी तथा गरीब के बीच की असमानता को दूर करने के महत्त्वपूर्ण समाधान ढूँढ़ निकालती है। यह एक ऐसे आदर्श की ओर संकेत करता है जिसकी ओर हम सब अग्रसर हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि आज तक किसी ने भी इस सिद्धांत का पालन नहीं किया है। पूर्व में कुछ धनिक लोगों ने तथा वर्त्तमान युग में भी कुछ हद तक इस सिद्धांत का पालन किया है।

आचार्य विनोबा भावे का लोगों से सैकड़ों एकड़ जमीन का स्वेच्छापूर्वक अर्जन कर लेना, इस बात का प्रमाण है कि गाँधीजी का संरक्षता सिद्धांत आज भी कई लोगों के प्रेरणा का स्रोत है।

## 9.4 सारांश

गाँधीजी एक अध्यात्मवादी विचारक थे जो लोगों को सुधारने की बात सोचते थे। वे नैतिक एवं धार्मिक उपदेशों के द्वारा लोगों के हृदय-परिवर्तन की बात सोचते थे। अतः उन्होंने ट्रस्टीशिप अथवा संरक्षता का सिद्धांत दिया ताकि निजी सम्पत्ति की धारणा का हो सके और समाज में आर्थिक समानता की स्थापना हो सके।

इस प्रकार, ट्रस्टीशिप के सिद्धांत के पीछे जो गाँधीजी का प्रमुख विचार था, वह यह कि समाज के सभी वर्गों में मैत्रीपूर्ण संबंध की स्थापना हो। यह तभी संभव होगा जब समाज में फैली आर्थिक विषमता का अंत होगा। धन का समान रूप से वितरण हो, इसके लिए गाँधीजी के आर्थिक विचारों पर ध्यान देना अति आवश्यक है।

ऐसा ठीक ही कहा गया है, "Gandhiji is still a living challenge to the economic thinking, planning and action not only in his own country but also in all the countries of the world."

## 9.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

गाँधीजी, सिद्धांत, ट्रस्टीशिप, संरक्षता, सुव्यवस्थित तत्त्ववेता, राजनीतिक विचारक, अर्थशास्त्री, अपरिग्रह, नैतिक विचार, समानता, संरक्षक, समान वितरण, अभिभावक, उत्तराधिकारी, पूँजीपति, अहिंसात्मक साधनों, परामर्शवाद, आर्थिक समानता, मुआवजा, स्वेच्छापूर्वक, मार्क्सवाद, गाँधीवाद, वर्गहीन, अर्थव्यवस्था, मनोवैज्ञानिक कारकों, आर्थिक समस्या, कृत्रिम, अवैज्ञानिक, क्रांति, युद्ध, व्यक्तिगत, आत्मशुद्धि।

## 9.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 9.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. ट्रस्टीशिप का सिद्धांत -

(क) गाँधीजी ने दिया है

(ख) नेहरूजी ने दिया है

(ग) मार्क्स ने दिया है

(घ) विवेकानन्द ने दिया है

**उत्तर - (क)**

2. गाँधीजी का संरक्षण सिद्धांत -

(क) व्यावहारिक है

(ख) अव्यावहारिक है

(ग) दोनों

(घ) कभी नहीं मिलना चाहिए

**उत्तर - (ख)**

### 9.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गाँधीजी के आर्थिक विचारों की तुलना मार्क्स के आर्थिक विचारों से करें।

(उत्तर - उपविषय 9.3.2)

2. ट्रस्टीशिप सिद्धांत के प्रमुख लक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर - उपविषय 9.3.1)

### 9.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गाँधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत की समीक्षा करें।

2. क्या गाँधीजी के संरक्षता का सिद्धांत व्यवहारिक है? समीक्षा करें।

## 9.7 प्रस्तावित पाठ

(1) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

❖❖❖❖

# राजनीति दर्शन का स्वरूप

पाठ संरचना


10.1 उद्देश्य

10.2 विषय-प्रवेश

10.3 मुख्य विषय - राजनीतिशास्त्र का स्वरूप

- 10.3.1 उपविषय - राजनीतिशास्त्र की परिभाषा
- 10.3.2 उपविषय - राजनीति दर्शन की परिभाषा
- 10.3.3 उपविषय - राजनीति दर्शन का स्वरूप
- 10.3.4 उपविषय - राजनीति दर्शन की समस्याएँ
- 10.3.5 उपविषय - राजनीति दर्शन का दृष्टिकोण
- 10.3.6 उपविषय - राजनीति दर्शन का पद्धति
- 10.3.7 उपविषय - निष्कर्ष

10.4 सारांश

10.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

10.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 10.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 10.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 10.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

10.7 प्रस्तावित पाठ


## 10.1 उद्देश्य

इस पाठ की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह कि हमें राजनीति दर्शन के स्वरूप की स्पष्ट धारणा हो। इसके लिए सर्वप्रथम हमें राजनीतिशास्त्र की परिभाषा, स्वरूप एवं उसकी समस्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है क्योंकि राजनीति दर्शन तथ्यों, धारणाओं एवं विश्वासों के लिए राजनीतिशास्त्र पर ही निर्भर करता है। इसके बाद हमलोग विभिन्न विचारकों की राजनीति दर्शन के विषय में दी गयी परिभाषाएँ देखेंगे। तत्पश्चात् हम राजनीति-दर्शन के स्वरूप, उसकी समस्याओं, उसका दृष्टिकोण तथा उसकी पद्धति की चर्चा करेंगे। अंत में, हम राजनीतिशास्त्र के वास्तविक स्वरूप का संक्षिप्त विवरण देंगे।

## 10.2 विषय प्रवेश

कई बार ''राजनीतिशास्त्र'' तथा ''राजनीति दर्शन'' इन दोनों का समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है मगर दोनों में कई भेद हैं। राजनीति वैज्ञानिकों का सैद्धान्तिक कार्य राजनीति दार्शनिकों से उसी तरह भिन्न है जिस तरह कि सामाजिक सिद्धान्त समाज दर्शन से भिन्न है।

यदि समाज अध्ययन का व्यापक अर्थ में प्रयोग हो तो राजनीति का अध्ययन भी उसी के अन्तर्गत आ जाता है। समाज के अध्ययन के अन्तर्गत समाज में रहनेवाले मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का अध्ययन सम्मिलित है जैसे राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, धार्मिक आदि। इस दृष्टि से राजनीति अध्ययन भी समाज अध्ययन का ही एक अंश है। परन्तु संकुचित अर्थ में समाज अध्ययन और राजनीति अध्ययन में अन्तर है। राजनीति अध्ययन में मनुष्य के केवल एक ही प्रकार की क्रिया का अध्ययन होता है और वह है राजनीतिक क्रिया। समाज अध्ययन के अन्तर्गत वैसी मानव-क्रियाएँ हैं जो किसी अन्य शास्त्र की विषय-वस्तु नहीं हैं, जैसे, सामाजिक संस्था के रूप में परिवार, धर्म आदि। इस प्रकार समाज-अध्ययन का क्षेत्र, राजनीति अध्ययन के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

जिस प्रकार समाज का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जाता है, वैज्ञानिक दृष्टि से या दार्शनिक दृष्टि और जैसे वैज्ञानिक दृष्टि से समाज के अध्ययन को समाजशास्त्र कहा जाता है और दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन को समाज-दर्शन, उसी प्रकार राजनीति का वैज्ञानिक दृष्टि से जो अध्ययन होता है, उसे राजनीतिशास्त्र और दार्शनिक दृष्टि से जो अध्ययन होता है, उसे राजनीति-दर्शन कहा जाता है।

समाज और राजनीतिशास्त्र का स्वरूप ''वैज्ञानिक'' होता है। इनका लक्ष्य व्याख्या करना है। ये अनुभव से प्राप्त तथ्यों के आधार पर सामान्यीकरण करते हैं।

समाज तथा राजनीति दर्शन अलग हैं। जहाँ वैज्ञानिक सिद्धान्त तथ्यात्मक तथा यथार्थ (Factual & positive) होते हैं, वहीं दर्शन मूल्यात्मक (Normetive) होता है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध तथ्यों से होता है, इनमें तथ्यों का अध्ययन उसी प्रकार किया जाता जिस प्रकार के वे हैं। दर्शन मूल्यात्मक होता है। यहाँ आदर्शों के आधार पर तथ्यों का मूल्यांकन होता है।

राजनीति-दर्शन को आदर्शमूलक कहा जाता है, क्योंकि यह राज्य और सरकार के आदर्शों एवं मूल्यों की चर्चा करता है।

अतः राजनीति दर्शन, राजनीतिशास्त्र के ही तथ्यों का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन है।

## 10.3 मुख्य विषय : राजनीति दर्शन का स्वरूप

राजनीति दर्शन दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है जिसमें राज्य तथा सरकार का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है।

दर्शन के अनेक रूप हैं और इन सभी रूपों में इसके दो प्रमुख लक्ष्य हैं-

(क) अवधारणाओं का स्पष्टीकरण

(ख) विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन

राजनीति दर्शन के भी ये दोनों लक्ष्य हैं। राजनीति दर्शन राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करता है तथा राजनीतिक विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन करता है। इस प्रकार, राजनीति दर्शन तथ्यों, अवधारणाओं एवं विश्वासों के लिए राजनीतिशास्त्र पर निर्भर करता है। राजनीतिक तथ्यों, अवधारणाओं एवं विश्वासों के स्पष्टीकरण के पश्चात् राजनीति दर्शन उनका समीक्षात्मक मूल्यांकन करता है। ऐसा करने से राजनीति दर्शन राज्य एवं सरकार के आदर्शों की स्थापना करता है।

किन्तु, राजनीति दर्शन के स्वरूप की बृहत् रूप से व्याख्या करने से पूर्व हमें राजनीतिशास्त्र क्या है, उसका क्षेत्र क्या हैं, राजनीति दर्शन क्या है, उसका क्षेत्र क्या है, इन सबों को जान लेना आवश्यक है।

### 10.3.1 उपविषय : राजनीतिशास्त्र की परिभाषा

राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन और उससे संबंधित समूहों और संस्थाओं का अध्ययन करता है।

अरस्तू (Aristotle) के अनुसार राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है।

Charles Hynman के अनुसार, "It corresponds to that part of the affairs of the state which centres in government and that kind or part of government which speaks to law."

गेटेल (Gettel) के अनुसार राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है। यह विज्ञान राजनैतिक समितियों, सरकार के संगठन, कानून की व्यवस्था तथा अन्तर्राजकीय सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

गार्नर (Garner) के अनुसार, राजनीतिशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, राजनीतिक संगठनों के स्वरूप इनका इतिहास तथा उनके रूपों और राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।

Paul Janet के अनुसार, "Political science is that part of social science which treats of the foundations of the state and the principle of government."

जार्ज-कैंटलिन ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा कि राजनीतिशास्त्र मानव तथा सामाजिक नियंत्रण की क्रिया का अध्ययन करता है। कुछ विचारकों के अनुसार राजनीतिशास्त्र शक्ति तथा सामाजिक नियंत्रण की समस्या का अध्ययन करता है।

इस प्रकार, विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप का अध्ययन करता है, राजनीतिक समितियों, सरकार के संगठन, कानून की व्यवस्था तथा अन्तर्राजकीय संबंधों का अध्ययन करता है।

राजनीतिशास्त्र की परिभाषा देखने के पश्चात् अब हम, राजनीति दर्शन की परिभाषा और क्षेत्र का अध्ययन करेंगे।

### 10.3.2 उपविषय : राजनीति दर्शन की परिभाषा

दर्शन को अंग्रेजी में 'Philosophy' कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है "ज्ञान के प्रति प्रेम या अनुराग।" प्लेटो तथा अरस्तू के अनुसार यह 'सत्य की खोज' है। दर्शनशास्त्र के विषय में ना हम जानते हैं कि यह किसी भी विषय का सुव्यवस्थित विचारशील अध्ययन करता है। यह तथ्यों का वर्णन नहीं करता है वरन् उनकी सार्थकता पर विचार करता है। यह सिद्धान्तों की खोज नहीं करता है वरन् उनका समीक्षात्मक विवरण देता है। दर्शन आदर्शो एवं मूल्यों की विवेचना करता है।

John Dewey के शब्दों में, "Whenever Philosophy has been taken seriously it has always been assumed that it signified achieving a wisdom that would influence the conduct of life."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन राज्य तथा सरकार से सम्बन्धित तथ्यों का बौद्धिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करता है। जैसा कि V. P. Varma का कहना है, "Political philosophy is the rational synthesis of political speculations, maxims and postulates, norms, opinions, information and generalisations into coherent knowledge. From philosophy it adopts a rational or thoughtful opproach to political problems. From philosophy again, it takes a synthetic or comprehensive orientation and standpoint."

Hallowell का भी कहना है, "It is one of the principal tasks of political philosophy to bring men's political beliefs to self-consciousness and to subject them to the scrutiny of reason."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन राजनीतिक समस्याओं का दार्शनिक पद्धति से हल करता है। यह राजनीतिक समस्याओं को दार्शनिक दृष्टि से देखता है तथा दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा करता है।

### 10.3.3 उपविषय : राजनीति दर्शन का स्वरूप

राजनीति दर्शन की विभिन्न परिभाषाओं से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि राजनीति दर्शन का संबंध राजनीतिक जीवन के अर्थ एवं लक्ष्य से है। यह राज्य के लक्ष्य, आदर्शों एवं मूल्यों से संबंधित है।

राजनीति दर्शन के दो पक्ष हैं- रचनात्मक या सृजनात्मक तथा समीक्षात्मक अथवा मूल्यात्मक।

इसका समीक्षात्मक पक्ष है राजनीति-विज्ञान के सिद्धान्तों तथा पद्धतियों की यथार्थता से सम्बन्ध तथा इसका रचनात्मक पक्ष है राजनीतिक आदर्शों की यथार्थता से सम्बन्ध।

अपने समीक्षात्मक तथा रचनात्मक दोनों पक्षों के लिए राजनीति दर्शन को राजनीतिक तथ्यों की आवश्यकता होती है। राजनीतिक तथ्यों या सिद्धान्तों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र में होता है। इस प्रकार राजनीति दर्शन और राजनीतिशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं।

डी० डी० रैफेल ने राजनीति दर्शन के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है कि इसके दो प्रमुख लक्ष्य है-

(क) राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण (Clarification of political concepts.)

(ख) विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन (Critical evaluation of beliefs)

राजनीति-दर्शन का पहला लक्ष्य है अवधारणाओं का स्पष्टीकरण। राजनीतिशास्त्र की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण (Clarification of concepts) राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। किसी विश्वास की तर्कसम्मता की परीक्षा के लिए उसमें जिन पदों का प्रयोग हुआ है उनके अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक है। कोई भी अवधारणा एक सामान्य प्रत्यय है जिनसे अनेक पदार्थों का संकेत मिलता है। जैसे "विद्यार्थी" एक सामान्य पद है जो प्रत्येक विद्यार्थी के लिए प्रयुक्त होता है। राजनीति दर्शन का लक्ष्य है राजनीतिक सामान्य प्रत्ययों जैसे प्रजातंत्र, न्याय, स्वतंत्रता आदि का स्पष्टीकरण।

राजनीति-दर्शन में सामान्य धारणाओं का विश्लेषण किया जाता है, संश्लेषण किया जाता है तथा उन अवधारणाओं को उन्नत किया जाता है। किसी अवधारणा के संश्लेषण का अर्थ है उसका अन्य अवधारणाओं से तार्किक संबंध बतलाना जैसे अधिकार की अवधारणा से "दायित्व" की अवधारणा का तार्किक संबंध बतलाया गया है। अवधारणाओं को उन्नत करने का तात्पर्य है उसका विशिष्ट प्रयोग बतलाना जिससे उसमें अस्पष्टता नहीं रहे। ये तीनों क्रियाएँ एक साथ होती हैं। इस प्रकार राजनीति दर्शन में राजनीतिक अवधारणाओं को स्पष्ट तथा निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीति दर्शन का दूसरा लक्ष्य है विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन। विश्वासों के समीक्षात्मक मूल्यांकन का तात्पर्य है किसी विश्वास के स्वीकारने या नकारने का विवेकपूर्ण आधार बतलाने की चेष्टा करना। हम बहुत सारे विश्वासों को साधारणतः बिना किसी युक्ति के स्वीकारते या नकारते हैं। उन विश्वासों के स्वीकारने या नकारने का आधार ढूँढ़ना समीक्षात्मक मूल्यांकन है। विज्ञान का लक्ष्य है व्याख्या करना, पर दर्शन का लक्ष्य है औचित्य ढूँढ़ना, प्रमाणित करने के लिए युक्तियों का प्रयोग करना। यहाँ एक आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि विज्ञानों में भी कोई पूर्व कल्पना सत्य है या असत्य, यह प्रमाणित करने के लिए युक्तियों का प्रयोग किया जाता है तो दर्शन और विज्ञान में अन्तर क्या हुआ? विज्ञान का लक्ष्य है कारण ढूँढ़ना और वह किसी भी घटना के कारण को बतलाने के लिए बौद्धिक आधार ढूँढ़ता है। विज्ञान कारणों की सत्यता-असत्यता से संबंधित है और जब नए अनुभवों के कारण पुराने विश्वासों में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, तो ऐसी हालत में या तो पुराने विश्वासों को छोड़ दिया जाता है या नए विश्वासों का त्याग किया जाता है या दोनों की ही विसंगतियों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

एक दार्शनिक विश्वासों में युक्तियों द्वारा उनकी विसंगतियों को दूर करने की चेष्टा करता है। एक दार्शनिक

किसी भी प्रकार के विश्वासों के बारे में खोज करता है, न केवल कारण संबंधी विचारों के बारे में खोज करता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दार्शनिक कभी भी किसी भी विश्वास के प्रति ध्यान लगा देता है। किसी भी विश्वास के बौद्धिक आधार को ढूँढ़ने का प्रश्न तभी उठता है, जब कुछ ऐसा हुआ है कि पहले मान्य विश्वास में संदेह उत्पन्न हो गया है और नया विश्वास पुराने के साथ असंगत प्रतीत होता है। एक दार्शनिक दोनों विश्वासों में युक्तियों के द्वारा उनकी विसंगतियों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

राजनीति दर्शन का भी संबंध ऐसे विश्वासों से नहीं है जो क्या सत्य है, इसके विषय में हो, अपितु ऐसे विश्वासों से जो मनुष्य या समाज के लिए क्या उचित है या शुभ है, इसके विषय में हो। यही एक राजनीतिक दार्शनिक का लक्ष्य है। D. D. Raphael के शब्दों में, "It is not a question of determining what is true or false, but one of determining what is right or wrong, good or bad."

राजनीति दर्शन "आदर्शमूलक" भी है क्योंकि यह राज्य तथा सरकार के उचित मापदण्ड एवं आदर्शों की चर्चा करता है। यही राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति दर्शन का प्रमुख भेद है। राजनीति शास्त्र वर्णनात्मक है जो सरकार के व्यवहारों, उसके कत्तव्यों का वर्णन करता है तथा मनुष्यों के राजनीतिक जीवन की चर्चा करता है। इसके विपरीत, राजनीति दर्शन यह निर्धारित करता है कि सरकार को क्या करना चाहिए तथा मनुष्य के राजनीतिक उद्देश्य क्या होना चाहिए ? इस प्रकार राजनीति दर्शन आदर्शमूलक है। उदाहरणस्वरूप प्लेटो का "Republic" जो आदर्श राज्य तथा सरकार का चित्रण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार, राजनीति दर्शन मूल्यात्मक दर्शन है।

### 10.3.4 उपविषय : राजनीति की समस्याएँ

राजनीति दर्शन की समस्याएँ राजनीति की दार्शनिक समस्याएँ हैं। राजनीति दर्शन की समस्याओं का सम्बन्ध राज्य तथा राजनीति के सैद्धान्तिक ज्ञान से है, उनकी यथार्थता तथा उनके मूल्यों से है। राजनीति दर्शन राज्य, उसके तत्व, उसकी उत्पत्ति, समाज के साथ उसके सम्बन्ध, सरकार तथा लोगों के साथ उसके सम्बन्धों की चर्चा करता है।

राजनीति-दर्शन विभिन्न राजनीतिक आदर्शों की जैसे प्रजातंत्र, राजतंत्र, धर्मतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, सर्वोदय, सत्याग्रह आदि की समीक्षा करता है। यह विभिन्न राजनीतिक अवधारणाओं जैसे अधिकार और कर्त्तव्य, समानता, स्वतंत्रता, न्याय, शक्ति, प्रभाव, प्राधिकार आदि की जाँच अथवा परीक्षण करता है।

अतः, राजनीति दर्शन की समस्याएँ राजनीतिशास्त्र की ही दार्शनिक समस्याएँ हैं।

### 10.3.5 उपविषय : राजनीति दर्शन का दृष्टिकोण

बौद्धिक उत्सुकता तथा सन्देह से शुरू होकर राजनीतिक दार्शनिक का दृष्टिकोण समीक्षात्मक, उन्नत, विचारात्मक तथा मूल्यात्मक है। (The attitude of the political philosopher is critical, reflective, tolerant, detached, continually progresive, directed by experience and reasoning etc.)

V. P. Varma के शब्दों में, "Political philosophy in its work of systematization of the result of empirical political researches will have to be catholic in its oiventation and extend its frontiers. This work of synthesis is clear, is philosophical in character."

### 10.3.6 उपविषय : राजनीति दर्शन की पद्धति

राजनीति दर्शन की पद्धति तो स्वाभाविक रूप में दार्शनिक पद्धति ही है। दार्शनिकों की प्रमुख पद्धति तो बौद्धिक पद्धति है, अथवा समीक्षात्मक चिन्तन की पद्धति है। इसी अर्थ में दर्शनशास्त्र को 'समीक्षा' (Criticism) कहा गया है। प्राचीन काल से ही इस पद्धति का विकास हुआ है। जैसा कि V. P. Varma ने कहा है, "Political philosophy, hence, cannot afford to cut off its links with the traditions of the Vedas, the Bhagwad Gita, the Manusmriti, Plato's Republic, Aristotle's Polities, Hobbes' Leviathan and Hegel's Philosophy of Right.

दार्शनिक पद्धति समीक्षात्मक भी है, भावात्मक भी है तथा समीक्षात्मक भी है। समीक्षात्मक भी है। समीक्षात्मक तथा रचनात्मक भावात्मक तथा निषेधात्मक दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। दार्शनिक पद्धति के भावात्मक तथा निषेधात्मक पक्षों पर जोर देते हुए N. V. Joshi कहते हैं, "Positively, in the political sphere, we are corcerned with the best possible organisation of human life and its needs. For the purpose, political philosophy will have to consider those conditions, through which the cooperation of all human beings in the society can be achieved for the highest common good. When we talk of the common good, it is definitely meant to exclude anything which is of sectional interest. In fact, political value aims at introducing unity and order in the entire human society. As such, only factional or party interests are absolutely incompatible with the conception of political life."

इस प्रकार, दार्शनिक पद्धति, राज्य, सरकार और मनुष्य के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करते हुए उसे कुछ लक्ष्य, नैतिकता, सत्य तथा उच्च सिद्धान्तों के जोड़ने की चेष्टा करती है।

राजनीति के अध्ययन का दार्शनिक दृष्टिकोण सबसे पुराना दृष्टिकोण है। दर्शन विश्लेषण करता है, तो संश्लेषण भी करता है। दर्शन की संश्लेषणात्मक पद्धति की चर्चा करते हुए V. P. Varma कहते हैं, "Political Philosophy in order to be dynamic in the era of the space age has attempted to advance political knowledge through the critical synthesis of the available empirical information."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन की पद्धति दार्शनिक पद्धति कहलाती है।

### 10.3.7 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार, हमने देखा कि राजनीति दर्शन राजनीतिशास्त्र के तथ्यों का बौद्धिक तथा समीक्षात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। यह राजनीतिशास्त्र की अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करता है तथा राजनीतिक विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन भी करता है। इस प्रकार यह, राजनीति, राज्य तथा सरकार को मूल्य प्रदान करता है। इसी कारण से इसे मूल्यात्मक या आदर्श मूलक माना गया है। राजनीति दर्शन का स्वरूप मूल्यात्मक है, न कि वर्णनात्मक।

## 10.4 सारांश

दार्शनिक दृष्टिकोण से राजनीति के अध्ययन को राजनीति-दर्शन कहते हैं। यहाँ हम बाह्य सत्य के पीछे छुपी हुई आन्तरिक सत्यता को देखने की चेष्टा करते हैं। बाह्य सत्य का अध्ययन करना विज्ञान का लक्ष्य है, मगर आन्तरिक सत्यता की खोज करना दर्शन का कार्य है। राजनीति दर्शन भी राजनीति की बाह्यता को छोड़ उसकी आन्तरिकता के अध्ययन की चेष्टा करता है।

राजनीति का दार्शनिक दृष्टिकोण बौद्धिक तथा समीक्षात्मक होता है। यह राजनीतिक समस्याओं पर विचार करता है। यह आदर्शमूलक है जो राज्य तथा सरकार के आदर्शों को निर्धारित करता है।

एक राजनीतिक दार्शनिक राजनीतिक अवधारणाओं जैसे समानता, स्वतंत्रता, न्याय, अधिकार, कर्त्तव्य आदि को बौद्धिक रूप से प्रमाणित करता है। यह राजनीतिक आदर्श जैसे प्रजातंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद आदि की भी समीक्षा करता है।

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि राजनीति दर्शन राजनीतिशास्त्र की समस्याओं का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है।

## 10.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

राजनीतिशास्त्र, राजनीति दर्शन, समीक्षात्मक मूल्यांकन, स्पष्टीकरण, राजनीतिक अवधारणाएँ, आदर्शमूलक, मूल्यात्मक, आदर्श, राजनीतिक संस्थाएँ, बौद्धिक, राज्य, सरकार, दार्शनिक प्रमाणित, राजनीतिक तथ्य, वर्णनात्मक, रचनात्मक, राजनीतिक लक्ष्य, विश्लेषण, संश्लेषण।

## 10.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 10.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. राजनीति दर्शन का लक्ष्य है-

   (क) राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण

   (ख) विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन

   (ग) दोनों

   (घ) कोई नहीं

   **उत्तर - (ग)**

2. राजनीति दर्शन-

   (क) वर्णनात्मक है

   (ख) मूल्यात्मक है

   (ग) दोनों

   (घ) कोई नहीं

   **उत्तर - (ख)**

### 10.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति-दर्शन क्या है ? चर्चा करें।

   (उत्तर देखें उपविषय 3.2)

2. राजनीति-दर्शन की पद्धति की चर्चा करें।

   (उत्तर देखें उपविषय 3.6)

3. राजनीति-दर्शन की समस्याओं की चर्चा करें।

   (उत्तर देखें उपविषय 3.4)

### 10.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीति दर्शन के स्वरूप की चर्चा करें।

2. राजनीति दर्शन की परिभाषा दें। इसकी समस्याओं तथा दृष्टिकोण की चर्चा करें।

## 10.7 प्रस्तावित पाठ


(1) Problems of Political Philosophy – D. D. Raphad

(2) Contemporary Political Theory – J. C. Johari

(3) Political Theory – Eddy Ashirvatham Ravised by K.K. Mishra

(4) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

# राजनीति दर्शन और राजनीति शास्त्र

पाठ संरचना


11.1 उद्देश्य

11.2 विषय-प्रवेश

11.3 मुख्य विषय-राजनीतिक दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र में संबंध

- 11.3.1 उपविषय - राजनीतिशास्त्र की परिभाषा तथा क्षेत्र
- 11.3.2 उपविषय - राजनीतिदर्शन की परिभाषा तथा क्षेत्र
- 11.3.3 उपविषय - राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति दर्शन में समानता
- 11.3.4 उपविषय - राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति दर्शन में भेद
- 11.3.5 उपविषय - निष्कर्ष

11.4 सारांश

11.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

11.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 11.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 11.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 11.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

11.7 प्रस्तावित पाठ


## 11.1 उद्देश्य

कई बार "राजनीति शास्त्र" तथा "राजनीति दर्शन" को एक ही अर्थ में लिया जाता है, मगर यह ठीक नहीं है। अत: इस पाठ की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है, वह यह कि हम राजनीति शास्त्र तथा राजनीति दर्शन के संबंध को भली-भाँति जान लें। हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना आवश्यक है कि क्या राजनीतिशास्त्र और राजनीतिदर्शन बिल्कुल एक ही हैं अथवा उनमें भेद है। इसी उद्देश्य से हमने इस पाठ की संरचना की है। सर्वप्रथम हम राजनीतशास्त्र की परिभाषा और क्षेत्र देखेंगे। इसके बाद हम राजनीति शास्त्र और राजनीति दर्शन में समानताएँ एवं भेद का अध्ययन करेंगे। अंत में हम निष्कर्ष के रूप में दोनों के बीच के भेद का स्पष्टीकरण करेंगे। इस प्रकार, हमें राजनीतिशास्त्र और राजनीति दर्शन के संबंध का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा।

## 11.2 विषय-प्रवेश

जब राजनीति का अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जाता है, तो उसे राजनीतिशास्त्र कहते हैं, मगर जब राजनीति का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन होता है तो उसे राजनीति दर्शन कहते हैं। यह उसी प्रकार की बात हुई जिस प्रकार समाज के वैज्ञानिक दृष्टि से किए गए अध्ययन को समाजशास्त्र और दार्शनिक दृष्टि से किए गए अध्ययन को समाज दर्शन कहते हैं।

व्यापक अर्थ में समाज अध्ययन के अन्तर्गत राजनीति का भी अध्ययन आ जाता है क्योंकि समाज अध्ययन के अन्तर्गत समाज में रहनेवाले मनुष्य की हर क्रिया सम्मिलित है जैसे राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक, आर्थिक आदि। इस दृष्टि से राजनीति अध्ययन भी समाज अध्यन का ही एक अंश है। परन्तु, संकुचित अर्थ में समाज अध्ययन और राजनीति अध्ययन में अन्तर है। राजनीति अध्ययन में मनुष्य की एक विशेष प्रकार की क्रिया का ही विचार होता है वह है राजनीतिक क्रिया। समाज अध्ययन के अन्तर्गत वैसी मानव क्रियाएँ हैं, किसी अन्य शास्त्र की विषय वस्तु नहीं है जैसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, आदि। इस प्रकार समाज दर्शन का क्षेत्र राजनीति दर्शन के क्षेत्र से व्यापक है और समाजशास्त्र का क्षेत्र राजनीति शास्त्र के क्षेत्र से व्यापक है।

राजनीति शास्त्र सरकार और राज्य का अध्ययन करता है, साथ ही साथ, यह राजनीतिक समितियों, सरकार के संगठन, कानून की व्यवस्था तथा अन्तर्राजकीय सम्बन्धों का भी अध्ययन करता है।

राजनीतिक दर्शन राजनीतिक तथ्यों का अथवा राज्य तथा सरकार से संबंधित तथ्यों का बौद्धिक तथा समीक्षात्मक अध्ययन करता है। इस प्रकार, राजनीतिक शास्त्र तथा राजनीति दर्शन दोनों एक ही प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करते हैं क्योंकि दोनों ही राज्य और सरकार के विचारों का अध्ययन करते हैं। अत: प्रश्न यह उठता है कि क्या राजनीतिशास्त्र और राजनीति दर्शन एक हैं अथवा उनमें कोई अन्तर भी है। इस प्रश्न का उत्तर हमें तभी मिलेगा जब हम राजनीति शास्त्र तथा राजनीति दर्शन की परिभाषा तथा संबंधों का अध्ययन करेंगे।

## 11.3 मुख्य विषय : राजनीति दर्शन तथा राजनीति शास्त्र में संबंध

राजनीति दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र दोनों ही राज्य और सरकार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। अत: अध्ययन की इन दोनों शाखाओं की समस्याएं एक ही हैं। अन्तर उनके क्षेत्र कार्य-पद्धति, दृष्टिकोण आदि में है।

जैसा कि हम जानते हैं, वैज्ञानिक सिद्धान्त व्याख्या तथा सामान्यीकरण तक ही अपने को सीमित रखते हैं। तथ्यों के आधार पर राजनीतिशास्त्र प्राक् कल्पनाओं को स्थापित करता है जिनका परीक्षण के द्वारा सत्यापन कर सामान्य नियमों की स्थापना करता है। अत: वैज्ञानिक सिद्धान्त मूल्यात्मक होते हैं। इस प्रकार, वैज्ञानिक सिद्धान्त तथ्यों का जैसे वे हैं उसी तरह उनका अध्ययन करते हैं जबकि दार्शनिक सिद्धान्त आदर्शों के आधार पर उन तथ्यों का मूल्यांकन करते हैं। दार्शनिक सिद्धान्त, समाज, राज्य और सरकार के आदर्शों का मूल्यांकन करते हैं।

इस प्रकार, जहाँ राजनीतिशास्त्र एक यथार्थ तथा वर्णनात्मक विज्ञान है, वहीं राजनीति-दर्शन आदर्शमूलक विज्ञान है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति-दर्शन में कई और भी भेद हैं जिनकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

इससे पहले हम राजनीतिशास्त्र और राजनीति दर्शन का परिभाषा तथा क्षेत्र का अध्ययन करेंगे। इससे हमें उनकी समानताएँ तथा विभिन्नताएँ जानने में आसानी होगी।

### 11.3.1 उपविषय : राजनीतिशास्त्र की परिभाषा

राजनीतिशास्त्र मनुष्य के राजनीतिक जीवन और उससे संबंधित समूहों तथा संस्थाओं का अध्ययन करता है। अरस्तू के अनुसार राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है।

Charles Hyneman के शब्दों में "It corresponds to that part of the affairs of the state which centres in government and that kind or part of government which speaks to law."

गेहेल के अनुसार, ''राजनीतिशास्त्र राज्य का विज्ञान है।''

गार्नर के अनुसार, '' राजनीतिशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति, उसके स्वरूप, राजनीतिक संगठनों के स्वरूप, उनका इतिहास तथा उनके रूपों और राजनीतिक सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।''

Paul Janet के अनुसार, "Political Science is that part of social science which treats of the foundation of the state and the principle of government."

जार्ज कैटलिन ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा कि राजनीतिशास्त्र मानव तथा सामाजिक नियंत्रण की क्रिया का अध्ययन करता है।

कुछ विचारकों के अनुसार राजनीतिशास्त्र व्यक्ति तथा सामाजिक नियंत्रण की समस्या का अध्ययन करता है।

Bluntschli के अनुसार, "Political Science is a science which is concerned with the state, which endeavours to understand and comprehend the state in its fundamental conditions, in its essential nature, its various forms of manifestation, its development."

इस प्रकार, विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप का अध्ययन करता है, राजनीतिक समितियों, सरकार के संगठन, कानून की व्यवस्था तथा अन्तरराजकीय संबंधों का अध्ययन करता है। राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या के लिए राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना राजनीतिशास्त्र का कार्य है। अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति राजनीतिशास्त्र भी तथ्यों की व्याख्या करता है तथा उसके सिद्धान्तों का परीक्षण के द्वारा सत्यापन करता है। अनुभव के द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर सामान्यीकरण और उनका परीक्षण राजनीतिशास्त्र में ही होता है।

### 11.3.2 उपविषय : राजनीति दर्शन की परिभाषा

अंग्रेजी में दर्शनशास्त्र को Philosophy कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्ञान के प्रति प्रेम या अनुराग। प्लेटो तथा अरस्तू इसे सत्य की खोज कहते हैं। इस प्रकार, दर्शनशास्त्र का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व का अध्ययन है। दर्शनशास्त्र किसी विषय का सुव्यवस्थित विचारशील चिन्तन करता है। यह सिद्धान्तों की खोज नहीं करता है वरन् उनका समीक्षात्मक विवरण देता है। दर्शन आदर्शों एवं मूल्यों की विवेचना करता है। "Whenever philosophy has been taken seriously it has always been assumed that it signified achieving a wisdom that would influence the conduct of life."

राजनीति-दर्शन राज्य तथा सरकार से सम्बन्धित तथ्यों का बौद्धिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करता है। जैसा कि V. P. Varma ने कहा है, "Political Philosophy is the rational synthesis of political speculations, maxims and postulates, norms, opinions, information and generatisation into coherent knowledge from philosophy it adopts a rational or thoughtful approach to political problems. From philosophy again, it takes a synthetic or comprehensive orientation and stand point."

Hallowell का भी कहना है, "It is one of the principal tasks of political philosophy to bring men's political beliefs to self-consciousness and to subject them to the scrutiny of reason."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन राजनीतिक समस्याओं का दार्शनिक पद्धति से हल करता है। यह राजनीतिक समस्याओं के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण रखता है तथा दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा करता है।

### 11.3.3 उपविषय : राजनीति दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र में समानता

राजनीति दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र की परिभाषा से यह तो स्पष्ट है कि राजनीति विज्ञान तथा राजनीति दर्शन दोनों का ही संबंध राज्य तथा सरकार के साथ है। यद्यपि दोनों एक ही समस्या का अध्ययन करते हैं तथापि उनके क्षेत्र, उनकी पद्धति, कार्य तथा दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। यद्यपि दोनों ही राजनीतिक आदर्शों जैसे मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि का अध्ययन करते हैं, दोनों राजनीतिक अवधारणाओं जैसे समानता, स्वतंत्रता, अधिकार और कर्त्तव्य, न्याय, शक्ति आदि का अध्ययन करते हैं, मगर उनके अध्ययन की पद्धति में बहुत अंतर है।

### 11.3.4 उपविषय : राजनीति दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र में अंतर

राजनीति दर्शन तथा राजनीति विज्ञान में निम्नलिखित भेद हैं :-

**(1) दोनों के अध्ययन के विषय अलग-अलग हैं** - राजनीतिशास्त्र में हम केवल अतीत तथा वर्तमान के राजनीतिक विचारकों के विचारों से ही सम्बन्ध नहीं रखते हैं, वरन् अतीत तथा वर्त्तमान में सरकार की कार्य-प्रणाली की भी चर्चा करते हैं। इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र में राज्य तथा सरकार के सैद्धान्तिक पक्ष का ही महत्व नहीं होता है, वरन् व्यावहारिक पक्ष की भी महत्ता होती है। मगर राजनीति दर्शन में ऐसा नहीं होता है। राजनीति दर्शन का संबंध राज्य तथा सरकार के व्यावहारिक कार्य-प्रणाली से नहीं है। (Political philosophy does not deal with the practical working of the state and government).

गेटेल (Gettel) के शब्दों में, "Political science is concerned with the historical survey of the origin, development and evolution of the state, the development of political theories and ideals, the analysis and the fundamental nature of the state, its organisation, its relation to individual who compose it and its relation to other states. It is different from political philosophy which deal with only some of these things."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन का संबंध राजनीतिक संस्थाओं से उतना नहीं है जितना कि इन संस्थाओं के मूल में जो विचार तथा उद्देश्य है, उनसे है। यह राजनीतिक घटनाओं तथा संस्थाओं के आधारभूत लक्ष्यों, उद्देश्यों एवं विचारों का अध्ययन करने का प्रयास करता है ताकि यह जान सके कि वे कौन से कारण हैं जिनसे ये घटनाएँ घटी हैं। अतः राजनीति दर्शन की यह चेष्टा है कि वे घटनाओं के ''क्यों'' और ''क्या'' का उत्तर दे सकें। "Political Philosophy is not much interested in how things occur as it is in what occurs and why."

इस प्रकार, राजनीति दर्शन का लक्ष्य है- राज्य और सरकार के विभिन्न पहलुओं का दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करना तथा राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करना।

अतः, राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र राजनीतिदर्शन के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

**(2) राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति दर्शन के कार्यों में भिन्नता** - राजनीतिशास्त्र का कार्य ''व्यावहारिक'' है (Pragmatic) क्योंकि यह राज्य चलानेवाले यंत्र अर्थात् सरकार की व्यावहारिक कार्य-प्रणाली का भी अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्र में राजनीतिक तथ्यों का वर्णन किया जाता है। राजनीतिक तथ्यों की व्याख्या के लिए राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। राजनीतिशास्त्री अन्य प्राकृतिक वैज्ञानिकों की भांति तथ्यों की व्याख्या की चेष्टा करता है। उसका लक्ष्य है- तथ्यों की व्याख्या। इसके अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र व्यावहारिक भी है। यह राज्य और सरकार के व्यावहारिक कार्यों का भी अध्ययन करता है।

इसके विपरीत राजनीति-दर्शन का कार्य है- राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण तथा विश्वासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन। विश्वासों के समीक्षात्मक मूल्यांकन से तात्पर्य है किसी विश्वास के स्वीकारने या नकारने का विवेकपूर्ण आधार बतलाने की चेष्ट करना। राजनीतिक दार्शनिक यह जानने का प्रयत्न करता है कि कहाँ तक और किन युक्तियों के आधार पर पुराने विश्वासों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। किन बातों में पुराने और नए विश्वासों में असंगति है और क्या विसंगति है। क्या उन विसंगतियों का किसी नई धारणा में समन्वय संभव है ? राजनीति-दर्शन का कार्य यही है।

राजनीति-दर्शन का दूसरा कार्य है राजनीतिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण। किसी विश्वास की तर्कसम्मत की परीक्षा के लिए उसमें जिन पदों का प्रयोग हुआ है उनके अर्थ को स्पष्ट करना आवश्यक है। अवधारणाओं को स्पष्ट करने के पश्चात् राजनीति दर्शन, राजनीतिक विचारों, आदर्शों एवं मूल्यों का समीक्षात्मक विवरण देता है। इस कार्य का विवरण हमें भारतीय राजनैतिक विचारक जैसे राजा राम मोहन राय, दयानन्द सरस्वती, गाँधीजी, विवेकानन्द तथा अरविंद के दर्शन में मिलता है। राजनीति-दर्शन का यह कार्य आधुनिक पाश्चात्य विचारक जैसे Voltaire, Karl Marx, Kroptokin की रचना में पूर्णरूप से झलकता है।

राजनीति-दर्शन का रचनात्मक पक्ष भी है (Constructive aspect) जहाँ एक ओर राजनीति-दर्शन पारम्परिक विश्वासों अथवा पुराने विचारों की समीक्षा करता है वहीं इसका एक रचनात्मक पक्ष भी है। राजनीति-दर्शन राजनीतिक जीवन के अर्थ एवं उद्देश्यों से सम्बन्धित है। यह राज्य के लक्ष्य, आदर्श तथा मूल्यों का अध्ययन करता है। राजनीति-दर्शन के दो पक्ष हैं- रचनात्मक तथा समीक्षात्मक। इसका समीक्षात्मक पक्ष है- राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों तथा पद्धतियों की यथार्थता से सम्बन्ध तथा रचनात्मक पक्ष है- राजनीतिक आदर्शों की यथार्थता से सम्बन्ध।

V. P. Varma के शब्दों में, "Indian political philosophers have to learn from the experience of Indian history. They cannot cut themselves away from a vital concern with social and political norms, values and ideals. They have to make efforts for conserving the five basic values. Political philosophy in India has to play various roles."

इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति दर्शन के कार्यों में भी भिन्नता है।

**(3) राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति-दर्शन के दृष्टिकोण में अंतर** - राजनीति-दर्शन का राजनीतिशास्त्र से भेद करते हुए कुछ विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को वर्णनात्मक या यथार्थविज्ञान कहा है और राजनीति दर्शन को आदर्शमूलक। राजनीतिशास्त्र में तथ्यों का जैसे वे हैं उनका उसी तरह से अध्ययन किया जाता है, परन्तु राजनीति-दर्शन में आदर्शों के आधार पर ही उन तथ्यों का मूल्यांकन होता है। इसलिए राजनीतिशास्त्र का राजनीतिक तथ्यों के विश्लेषण से सम्बन्ध है, पर राजनीति दर्शन का उनके मूल्यांकन से। यही कारण है कि प्लेटो, मोर, रूसो, कांट, हेगेल, ग्रीन, बोसाक्वे आदि अपनी कृतियों में राजनीति को बहुत ऊँचाई तक ले गए हैं, क्योंकि उन्होंने राजनीति में आदर्श की स्थापना की बात कही है तथा आदर्श सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की है।

इस प्रकार, राजनीति-दर्शन का दृष्टिकोण आदर्शमूलक है और राजनीति विज्ञान का वर्णनात्मक (The approach of political science while that of political philosophy is axiological) राजनीति-दर्शन राज्य तथा सरकार के आदर्शों की चर्चा करते हुए यह बतलाता है कि उसे कैसा होना चाहिए।

**(4) राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति-दर्शन की पद्धतियाँ भिन्न हैं** - राजनीतिशास्त्र की पद्धति वैज्ञानिक पद्धति है। राजनीतिशास्त्र निरीक्षण, प्रयोग, सादृश्यानुमान की पद्धति का प्रयोग करता है।

राजनीति-दर्शन प्रत्येक राजनीतिक घटना को सम्पूर्ण का एक अंश मानते हुए साक्षात् प्रत्यक्ष, अन्तः अनुभूति तथा तर्क के आधार पर उसकी व्याख्या करता है। इस प्रकार, इसकी पद्धति समीक्षात्मक है।

**(5) दोनों ही अलग-अलग बातों पर बल देते हैं** - राजनीतिशास्त्र राजनीतिक घटनाओं के सैद्धान्तिक पक्ष पर बल देता है तो राजनीति-दर्शन उसके समीक्षात्मक पक्ष पर बल देता है। राजनीति-दर्शन राजनीतिक घटनाओं के अर्थ एवं उद्देश्य की खोज करता है। राजनीतिशास्त्र राजनीतिक समस्याओं का अध्ययन करता है, किन्तु राजनीति-दर्शन राज्य तथा आदर्श को निर्धारित करता है। जहाँ राजनीतिशास्त्र तथ्यों तथा पद्धतियों की महत्ता पर बल देता है वहीं राजनीति-दर्शन उनके मूल्यों एवं पद्धतियों से संबंधित है।

(Political science is fact oriented but political philosophy is value oriented).

इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति-दर्शन में कई प्रमुख भेद हैं।

### 11.3.5 उपविषय : निष्कर्ष

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक दार्शनिक सिद्धांतकार (Theorist) हो सकता है, मगर यह आवश्यक नहीं है कि एक सिद्धांतकार दार्शनिक हो। कई प्रमुख अमरीकन लेखक जैसे Charles Merriam और Harold Lasswell प्रमुख सिद्धांतकार हैं, पर हॉब्स और लॉक जैसे दार्शनिक नहीं। अतः यद्यपि राजनीतिशास्त्र और राजनीति-दर्शन सभी राजनीतिक धारणाओं एवं आदर्शों का अध्ययन करते हैं, किन्तु जहाँ राजनीतिशास्त्र का उन धारणाओं के स्वरूप, उनकी व्याख्या या वर्णन से सम्बन्ध हैं वहीं राजनीति-दर्शन उनकी समीक्षा और मूल्यांकन करता है। इसीलिए कहा गया है, "Political philosophy is only abstract or speculative, whereas political science or theory may be both abstract and speculative as well as concrete and empirical."

## 11.4 सारांश

यद्यपि राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति-दर्शन में कई अंतर है, फिर भी दोनों एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं तथा दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। राजनीतिशास्त्र तथ्यों का अध्ययन करता है, मूल्यों का निर्धारण नहीं करता है। यह कार्य राजनीति-दर्शन के क्षेत्र के अन्दर आता है। राजनीति-दर्शन राज्य तथा सरकार के आदर्शों का निर्धारण करता है जिसके लिए पहले यह राज्य तथा सरकार के कार्यों की आलोचना करता है। इस प्रकार, राजनीतिक आदर्शों के निर्धारण के लिए राजनीतिशास्त्र राजनीति-दर्शन पर आश्रित है।

उसी प्रकार, राजनीति-दर्शन भी राजनीतिशास्त्र पर निर्भर करता है। कोई भी दार्शनिक शून्य में काम नहीं कर सकता है। उसे राजनीतिशास्त्र द्वारा सम्पादित तथ्यों के आधार पर ही कार्य करना है। उसे देश में प्रचलित राजनीतिक परिस्थितियों एवं संस्थाओं पर ही कार्य करना है। एक राजनीतिक दार्शनिक का संबंध न केवल लक्ष्य या अंत से है वरन साधनों से भी है। प्लेटों ने न्याय के आदर्श की कल्पना की, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए उसे उन संस्थाओं का सहारा लेना पड़ा जिनके माध्यम से न्याय की प्राप्ति हो सके।

इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति-दर्शन एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

## 11.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

राजनीतिशास्त्र, राजनीति-दर्शन, वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनीतिक संस्थाएँ, राजनीतिक समितियाँ, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ, समीक्षात्मक अध्ययन, बौद्धिक, विचारशील पद्धति, सैद्धान्तिक, व्यावहारिक, शून्य, वर्णनात्मक, आदर्शमूलक, तथ्यात्मक, मूल्यांकन, निर्भर, पूरक।

## 11.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. राजनीति-दर्शन

(क) तथ्यात्मक है

(ख) मूल्यात्मक है

(ग) दोनों

(घ) कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

2. राजनीतिशास्त्र और राजनीति-दर्शन

(क) एक दूसरे से भिन्न हैं

(ख) एक दूसरे के समान हैं

(ग) एक दूसरे पर निर्भर करते हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं

(घ) कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

### 11.3.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र तथा परिभाषा दें

(उत्तर - उपविषय 3.1)

2. राजनीति दर्शन की परिभाषा एवं कार्य की चर्चा करें।

(उत्तर - उपविषय 3.2)

3. राजनीति दर्शन तथा राजनीतिशास्त्र की भिन्नताओं की चर्चा करें

(उत्तर - उपविषय 3.4)

### 11.3.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिशास्त्र एवं राजनीति-दर्शन के संबंधों की समीक्षा करें।

2. राजनीतिशास्त्र तथा राजनीति-दर्शन एक दूसरे पर निर्भर करते हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं। टिप्पणी करें।

## 11.7 प्रस्तावित पाठ


(1) Contemporary Political Theory – J. C. Johari

(2) Problems of Political Philosophy – D. D. Raphad

(1) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा


❖❖❖❖

# राजनीतिक अवधारणाएँ - स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय

पाठ संरचना


12.1 उद्देश्य

12.2 विषय - प्रवेश

12.3 मुख्य विषय - स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय का संबंध

- 12.3.1 उपविषय - स्वतंत्रता का अर्थ एवं परिभाषा
- 12.3.2 उपविषय - स्वतंत्रता के प्रकार तथा स्वतंत्रता के संरक्षण
- 12.3.3 उपविषय - समानता का अर्थ एवं परिभाषा
- 12.3.4 उपविषय - समानता के प्रकार
- 12.3.5 उपविषय - न्याय की धारणा का अर्थ एवं परिभाषा
- 12.3.6 न्याय के प्रकार
- 12.3.7 स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय का संबंध
- 12.3.8 निष्कर्ष

12.4 सारांश

12.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

12.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 12.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 12.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 12.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

12.7 प्रस्तावित पाठ


## 12.1 उद्देश्य

स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय ये तीनों महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अवधारणाएँ है। इनका राजनीतिक दर्शन में अत्यंत ही महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इन धारणाओं के अभाव में राजनीतिशास्त्र का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा। प्रत्येक राजनीति विचारक इन धारणाओं का अत्यधिक प्रयोग करता है। अत: इस पाठ का प्रमुख उद्देश्य है इन धारणाओं का स्पष्टीकरण। इसके लिए हम इन धारणाओं के अर्थ, परिभाषा, प्रकार आदि का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम, हम स्वतंत्रता की अवधारणा का अर्थ एवं परिभाषा एवं उसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे। इसके बाद हम समानता की धारणा की परिभाषा तथा उसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे। फिर हम न्याय की अवधारणा की परिभाषा तथा

प्रकार का अध्ययन करेंगे। अंत में हम स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय के संबंधों की स्थापना करेंगे। फिर, हम अपना निष्कर्ष देंगे।

## 12.2 विषय-प्रवेश

राजनीति दर्शन के क्षेत्र में स्वतंत्रता की अवधारणा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। स्वतंत्रता मानव का स्वाभाविक अधिकार है। स्वतंत्रता की जो अवधारणा आधुनिक युग में प्रचलित है, वह फ्रांसिसी क्रांति की देन है। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन में भी स्वतंत्रता की अवधारणा इस उक्ति के द्वारा कि ''स्वतंत्रता हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है'' प्रदर्शित की गयी थी। जिस प्रकार अधिकारों का विषय स्वतंत्रता की धारणा से जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार स्वतंत्रता की धारणा भी अधिकारों के सिद्धांत से निकट रूप में संबंधित है। जैसा कि लास्की (Laski) ने कहा है, "Without rights there can be no liberty because without rights, men are the subjects of law unrelated to the needs of personality."

स्वतंत्रता की धारणा की तरह समानता की धारणा भी नियामक अथवा आदर्शनिर्देशक राजनीति सिद्धान्त की एक प्रमुख धारणा है। स्वतंत्रता की तरह समानता की धारणा का भी अध्ययन अन्य धारणाओं के साथ ही किया जा सकता है, इनसे अलग होकर नहीं। समानता की माँग राजनीतिक विचारकों तथा क्रांतिकारियों के द्वारा प्रचलित विषमताओं के विरूद्ध एक नारा रही है।

इसी प्रकार न्याय की धारणा का राजनीति, कानून, दर्शनशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। न्याय सभ्य समाज का एक अनिवार्य अंग है तथा प्राचीन काल से विद्वानों ने इस पिषय में बहुत कुछ लिखा है। हालांकि, राजनीतिक सिद्धान्त की अन्य धारणाओं की तरह न्याय की धारणा की ठोस परिभाषा देना कठिन है।

अतः, स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय महत्वपूर्ण राजनीतिक अवधारणाएँ हैं जिनका अर्थ एवं परिभाषा अब हम देखेंगे।

## 12.3 मुख्य विषय : स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय में संबंध

स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय का आपस में निकट संबंध है। सच पूछा जाए तो स्वतंत्रता तथा समानता वे दो खंभे हैं जिन पर न्यायरूपी इमारत खड़ी है। जैसा कि इस पाठ में आगे हम देखेंगे, समानता के अभाव में स्वतंत्रता का अस्तित्व नहीं है तथा समानता के अभाव में न्याय नहीं रहेगा। अतः स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय एक दूसरे पर आश्रित हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं।

इनके संबंधों को बृहत रूप से देखने के पहले हम इन अवधारणाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण करेंगे।

### 12.3.1 उपविषय : 'स्वतंत्रता' का अर्थ एवं परिभाषा

स्वतंत्रता का अंग्रेजी पर्याय है 'लिबर्टी' (Liberty) जिसकी व्युत्पत्ति लैटिन शब्द (Liber) से हुई है, जिसका अर्थ है- बंधनों का न होना अथवा "Free"; किन्तु ''स्वतंत्रता'' का सभी राजनीतिक विचारकों के लिए एक ही अर्थ अथवा समान अर्थ नहीं है। लास्की ने स्वतंत्रता की परिभाषा एक वातावरण-विशेष की सुरक्षा के रूप में की है। लास्की के शब्दों में स्वतंत्रता का अर्थ है, "The absence of restraint upon the existence are the necessary guarantees of individual happiness."

अराजकतावादियों का तथा व्यक्तिवादियों एवं Syndicalists का कहना है कि स्वतंत्रता तथा प्रभुसत्ता आपस में विरोधी हैं। Hobhause ने कहा है, "The liberty of each must on the principle of common good, be limited by the rights of all. In general, my rights are my liberties and in protecting my rights, the community secures my liberties."

**स्वतंत्रता का नकारात्मक तथा सकारात्मक रूप**

स्वतंत्रता के नकरात्मक पक्ष का समर्थन करनेवाले विचारकों का विचार है कि स्वतंत्रता का अर्थ है मनुष्य पर कोई अनुचित प्रतिबन्ध का न होना (Absence of Restraint)।

सकारात्मक स्वतंत्रता की धारणा के अनुसार स्वतंत्रता का मूल तत्व केवल आंतरिक तथा बाह्य प्रतिबन्धों का अभाव ही नहीं है, वरन् इसमें "अच्छे उद्देश्य" की प्राप्ति की इच्छा निहित रहती है, जिसकी समझ केवल एक विकसित व्यक्तित्व द्वारा प्राप्त हो सकती है। लॉस्की स्वतंत्रता के सकारात्मक पक्ष को मानते हुए कहते हैं कि स्वतंत्रता का अर्थ है "उन्नित अवसरों की उपस्थिति।"

इस प्रकार, स्वतंत्रता का अर्थ है अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव ताकि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके।

**12.3.2 उपविषय : स्वतंत्रता के प्रकार**

साधारण शब्दों में स्वतंत्रता का अर्थ है "मुक्ति की स्थिति, जो राजनीतिक बन्धन, उत्पीड़न एवं बाधाओं का विरोधी है।" वैसे स्वतंत्रता एक व्यापक अवधारणा है जिसे समझने के लिए उसके प्रकारों को जानना आवश्यक है। स्वतंत्रता के निम्नलिखित प्रकार हैं :

**(1) प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural Liberty)** : यह मनुष्य की अपनी इच्छा से कुछ भी करने की स्वतंत्रता है। इस प्रकार की स्वतंत्रता अथवा छूट यथार्थ नहीं हो सकती है क्योंकि इसके लिए कोई गारण्टी देने वाला नहीं है।

**(2) सामाजिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता (Social Civil Liberty)** : यह स्वतंत्रता व्यक्तियों को समाज में रहते हुए प्राप्त होती है। इसका संबंध मनुष्य के उन अधिकारों से है जिनका उपयोग वह समाज द्वारा मर्यादित कानूनों में रहकर करने में है। स्वतंत्रता का यह रूप अन्य प्रकार की स्वतंत्रताओं का आधार है–

**(क) राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)** : राजनीतिक स्वतंत्रता का आशय ऐसे अधिकारों से है जो एक नागरिक को राज्य की गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्रदान करते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत अनेक राजनीतिक अधिकार आ जाते हैं जैसे- मतदान का अधिकार, समाचार प्राप्त करने का अधिकार आदि।

**(ख) आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty)** : इसका अर्थ है, "प्रत्येक प्राणी को जीविका कमाने के लिए समुचित सुरक्षा एवं सुविधा प्राप्त हो।" इसका अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति को उचित काम का अधिकार मिले, उचित वेतन मिले आदि।

**(ग) पारिवारिक स्वतंत्रता (Domestic Liberty)** : यह विवाह कर परिवार बसाने की स्वतंत्रता है तथा बीबी एवं बच्चों को समाज में उचित स्थान प्राप्त होने का अधिकार है।

**(घ) राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)** : यह विदेशी आधिपत्य से मुक्त रहने का अधिकार है, देशभक्ति के प्रचार का अधिकार है।

**(ङ) अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता (International Liberty)** : यह युद्ध का परित्याग करने का अधिकार है। यह निरस्त्रीकरण की स्वतंत्रता है तथा विश्व में शांति फैलाने का अधिकार है।

**(च) व्यक्तिगत स्वतंत्रता (Personal Liberty)** : इसका अर्थ है व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्णरूपेण विकास की स्वतंत्रता।

**(3) नैतिक स्वतंत्रता (Moral Liberty)** : यह व्यक्ति का अपने अन्तःकरण के अनुसार कार्य करने की स्वतंत्रता है।

**स्वतंत्रता के संरक्षण**

(1) स्वतंत्रता को कई प्रकार से संरक्षित किया जा सकता है। राष्ट्र की कानूनी व्यवस्था स्वतंत्रता की रक्षा का महत्वपूर्ण उपकरण है।

(2) स्वतंत्रता की रक्षा देश के संविधान द्वारा भी होती है जिसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों की चर्चा रहती है।

(3) स्वतंत्रता की रक्षा के लिए विशेष अधिकार की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।

(4) प्रेस की स्वतंत्रता भी स्वतंत्रता का आवश्यक संरक्षण करती है।

(5) लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था में भी स्वतंत्रता की रक्षा होती है।

(6) स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सबसे आवश्यक है, ''लोगों की जागरूकता।''

जैसा कि Bryce ने कहा है– "Eternal vigilance is the price of liberty."

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि स्वतंत्रता की रक्षा का सबसे महत्वपूर्ण संरक्षण है, ''लोगों का स्वतंत्रता के प्रति प्रेम।'' De Tocqueille का कहना है, "There are nations which have tirelessly pursued freedom through every kind of pain and hardship. They loved it, not for its material benefit, they regard freedom itself as a gift too precious and so necessary that no other could console them for the loss of everything else."

### 12.3.3 समानता का अर्थ एवं परिभाषा

'समानता' की धारणा की ठोस परिभाषा देना कठिन है क्योंकि यह एक बहुमुखी (Multi-dimensional) धारणा है। इसी कठिनाई के कारण लास्की ने कहा कि राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में किसी भी धारणा की परिभाषा देने में इतनी कठिनाई है जितनी कि समानता की परिभाषा देने में। साधारण भाषा में समानता का अर्थ यह लिया जाता है कि समाज में सभी व्यक्तियों का समान दर्जा हो तथा सबको समान सुविधाएँ मिलें। लास्की का कथन है, ''समानता का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाए अथवा प्रत्येक व्यक्ति को समान वेतन मिले। यदि ईंट ढोने वाले का वेतन एक प्रसिद्ध गणितज्ञ अथवा वैज्ञानिक के बराबर कर दिया जाए तो इससे समाज का उद्देश्य ही नष्ट हो जाएगा।''

**समानता के रूप** : समानता को नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों रूपों में व्यक्त किया जाता है।

(i) नकारात्मक रूप - नकारात्मक रूप में समानता का अर्थ वर्ग-विशेष के विशेषाधिकार को समाप्त करना है जो जन्म, सम्पत्ति, धर्म अथवा रंग के आधार पर कुछ व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं।

(ii) सकारात्मक रूप - सकारात्मक रूप वह है जिसके अनुसार राज्य के सभी व्यक्तियों को समान अवसर प्राप्त हो। सकारात्मक समानता केवल विशेषाधिकार की समाप्ति नहीं, वरन् प्रत्येक व्यक्ति को उसके विकास का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए।

(iii) बार्कर (Barker) का कहना है, ''समानता का अर्थ है कि अधिकारों के रूप में जो सुविधाएँ मुझे प्राप्त हैं वैसी ही और उसी मात्रा में वे सुविधाएँ दूसरों को भी उपलब्ध हों तथा दूसरों को जो अधिकार प्रदान किए जाएँ, वे मुझे भी अवश्य प्रदान हों।

### 12.3.4 उपविषय : समानता के प्रकार

(1) प्राकृतिक समानता (Natural Equality) : प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान बनाया है। किन्तु, समानता का यह अर्थ अव्यावहारिक तथा आदर्श मात्र है।

(2) सामाजिक समानता (Social Equality) : सामाजिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज की समान इकाई के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए और उसमें जाति कुल, रंग अथवा धर्म के आधार पर भेद-भाव नहीं होना चाहिए।

(3) राजनीतिक समानता (Political Equality) : राजनीतिक समानता का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अर्थात् सभी नागरिकों को राज्य के शासन में समान अधिकार प्राप्त हों। जैसे-मतदान का अधिकार, राजकीय नियुक्ति का अधिकार आदि।

(4) आर्थिक समानता (Economic Equality) : आर्थिक समानता का अर्थ है आर्थिक विषमताओं को समाप्त करना, ताकि कुछ ही लोगों के हाथ में धन का संचय नहीं हो सके।

(5) कानूनी समानता (Legal Equality) : कानूनी समानता का अर्थ है, कानून के समक्ष समानता। राज्य के द्वारा सभी व्यक्तियों के लिए एक समान कानून बनेगा और सब पर एक ही समान रूप से लागू किया जाएगा। सभी व्यक्तियों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त होगा।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय समानता (International Equality) : इसका अर्थ है सभी राष्ट्रों के साथ समान व्यवहार। आर्थिक, भौगोलिक, सैनिक शक्ति के आधार पर राष्ट्रों में कोई विषमता नहीं होनी चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समानता का अर्थ है समान अवसरों की उपलब्धि तथा विशेषाधिकार का अन्त।

### 3.5 उपविषय : न्याय की अवधारणा का अर्थ एवं परिभाषा

D. D. Raphael के शब्दों में, "To call something just is to express approval of it as being right in a specific way, but to pin down the character is not at all easy. Justice is a complex concept."

न्याय को अंग्रेजी में "Justice" कहते हैं जो लैटिन शब्द "Justice" से व्युत्पन्न हुआ, जिसका अर्थ है ''जुड़ना'' (Joining or fitting, the idea of bond or tie)। शुरू में जुड़ने का तात्पर्य था, मनुष्य का मनुष्य के साथ आपसी संबंध, वह सम्बन्ध जो एक सभ्य समाज के लोगों के बीच होता है। C. M. Marrian के अनुसार, "Justice consists in a system of understanding and procedure through which each is accorded what is agreed upon as fair." बेब और पीटर्स () के अनुसार न्याय का अर्थ है सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार करना जबतक उनमें स्पष्ट अंतर न हो। बार्कर (Barker) के अनुसार, "Justice is the reconciler and the synthesiser of political values, it is their in an adjusted and integrated whole."

**न्याय के लक्षण** :

(1) सर्वप्रथम, न्याय की धारणा का अर्थ है इस बात का परीक्षण कि सभी मनुष्य के साथ किए गए व्यवहार।

(2) न्याय का अर्थ है समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच धर्म, स्थान, जाति, लिंग इत्यादि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए।

(3) न्याय का यह भी अर्थ है कि कुछ कारणों के आधार पर भेदभाव किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय संविधान के अन्तर्गत पिछड़े वर्ग को कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं जो किसी भी प्रकार न्याय का उल्लंघन नहीं करता है।

(4) न्याय व्यक्तिगत सम्मान पर विशेष महत्व देता है तथा उन सभी कार्यों को सीमित करता है जो समाज के अधिकतर लोगों के हित में न हों।

**न्याय की धारणा का विकास :**

न्याय की प्राचीन धारणा जो प्राचीन जातियों में पाई जाती थी वह ''जैसे को तैसा'' (Tit for Tat) के सिद्धान्त पर आधारित है। सोफिस्ट सम्प्रदाय न्याय को ''शक्तिशाली का हित'' के रूप में परिभाषित करता है। न्याय के आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार जिसके प्रवर्त्तक प्लेटो थे- ''न्याय एक सद्‌गुण है।'' अरस्तू क अनुसार, न्याय का अर्थ है- मनुष्यों और वस्तुओं के बीच मात्रा की समानता।

फ्रांसिसी क्रान्ति के पश्चात् आधुनिक उदारवादी समाज ने स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारा का तीन प्रमुख मूल्य माना ताकि मनुष्यों के बीच न्यायपूर्ण सम्बन्ध रहे। ह्यूम तथा बेन्थम ने अधिकतर लोगों के अधिकतर सुख की बात कही। मार्क्स तथा एंजल्स ने न्याय व्याख्या देते हुए कहा कि न्याय तभी सम्भव हो सकता है जब पूँजीवादी व्यवस्था को उतार फेंका जाए और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो। लास्की तथा मैकाइवर ने न्याय से व्यक्ति तथा सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्धों का समन्वय माना है।

### 12.3.6 उपविषय : न्याय के प्रकार

**(1) कानूनी न्याय (Legal Justice)** : कानून में न्याय शब्द का प्रयोग उन सभी नियमों तथा प्रक्रियाओं के लिए किया जाता है जिनका पालन करना अनिवार्य होता है। कानून शब्दावली में कानून की प्रणाली (System of law) को न्याय की प्रणाली (System of Justice) कहा जाता है। न्यायपूर्ण कानून के निर्माण का अर्थ यह है कि कानून सामाजिक मान्यताओं तथा नैतिक दृष्टि के अनुरूप हो। उदाहरणस्वरूप- जब भारतीय संविधान ने छुआछूत (Untouchalility) को खत्म किया तो यह न्याय का कानूनी पक्ष था। इस प्रकार, कानूनी न्याय का अर्थ है ''कानून के अनुसार'' तथा ''कानून के सम्मुख समानता।''

**(2) राजनीतिक न्याय (Political Justice)** : इसका तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को सरकारी अथवा देश की शासन व्यवस्था में हाथ बँटाने का अधिकार है। वयस्क मताधिकार राजनीतिक न्याय का आधार है।

**(3) सामाजिक न्याय (Social Justice)** : न्याय के सामाजिक पक्ष का सरोकार राज्य और धर्म, राज्य और विभिन्न सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक समुदायों में सम्बन्धों से है। सामाजिक न्याय का मुख्य उद्देश्य मानव का शोषण समाप्त करना है। असहाय, बूढ़े और बीमार व्यक्तियों को सहायता और सुरक्षा प्रदान करना सामाजिक न्याय का महत्वपूर्ण अंग है।

**(4) आर्थिक न्याय (Economic Justice)** : न्याय का आर्थिक पक्ष मुख्य रूप से समाजवादी आंदोलन का परिणाम है। उदारवादी विचारधारा में आर्थिक न्याय की प्राप्ति तब हो सकती है जब राज्य व्यक्तियो की आर्थिक माँगों की पूर्त्ति कर सके, आय की विषमता को दूर करे तथा सबों को बराबर का अवसर दे। मार्क्सवादी विचार के अनुसार आर्थिक न्याय केवल एक वर्गविहीन साम्यवादी समाज में पाई जा सकती है, जहाँ सभी को अपनी क्षमता तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार अर्थ की प्राप्ति हो।

न्याय के विभिन्न प्रकारों की चर्चा के फलस्वरूप हमने पाया कि संकुचित दृष्टिकोण से तो न्याय का सम्बन्ध समाज तथा देश की कानूनी व्यवस्था से है, किन्तु व्यापक अर्थ में न्याय के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पक्ष से है।

### 12.3.7 उपविषय : स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय में संबंध

स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय में बहुत निकट का संबंध है। एक शब्द में न्याय का अर्थ है वह सामान्य अधिकार जो सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना राज्य के द्वारा की जाती है। न्याय की यह माँग है कि नागरिकों को देश की शासन-व्यवस्था में भाग लेना चाहिए तथा लोगों को बन्धन, गरीबी, बेरोजगारी आदि से मुक्त होना चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक समानता के अभाव में न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती है। सच पूछा जाए तो स्वतंत्रता और समानता वे दो खम्भे हैं जिनपर न्याय रूपी इमारत खड़ी है।

इस प्रकार, स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय आपस में निकट रूप से संबंधित हैं।

### 12.3.8 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार हमने देखा कि स्वतंत्रता, समानता और न्याय इन तीनों का आपस में गहरा संबंध है। जो समाज मनुष्य को नागरिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है, वह न्यायपूर्ण समाज है। न्याय और समानता भी उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार न्याय और स्वतंत्रता में है। अरस्तू ने तो न्याय को ही समानता कहा है। समानता से तात्पर्य यह है कि जो अधिकार एक मनुष्य को प्राप्त हो, उनसे दूसरों को वंचित न किया जाए। न्याय की भी यही माँग है कि सभी व्यक्तियों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति समान रूप से होनी चाहिए। इस प्रकार, समानता के अभाव में स्वतंत्रता का अस्तित्व नहीं है तथा समानता के अभाव में न्याय नहीं रहेगा। अतः हम यह कह सकते हैं कि स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय एक दूसरे पर आश्रित है, तथा एक दूसरे के पूरक हैं।

## 12.4 सारांश

इस प्रकार हमने देखा कि स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय ये तीनों राजनीति दर्शन की प्रमुख धारणाएँ है जिनका प्रयोग राजनीति दार्शनिक हमेशा करते हैं। स्वतंत्रता का अर्थ है बन्धनों का न होना मगर स्वतंत्रता की परिभाषा एक वातावरण-विशेष की सुरक्षा के रूप में की गयी है। समानता का अर्थ है समाज में सभी व्यक्तियों को ऐसी सुविधा मिले कि वह अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से विकसित कर सके तथा जाति, धर्म, कुल रंग, आदि के नाम पर कोई भेदभाव न हों। यही अर्थ न्याय का भी है कि सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार हों, जाति, धर्म रंग, कुल आदि के नाम पर कोई भेदभाव न हों।

इस प्रकार, वे तीनों धारणाएँ आपस में जुड़ी हुई है। समानता के अभाव में स्वतंत्रता का अस्तित्व नहीं है तथा न्याय के अभाव में समानता नहीं होगा। अतः ये तीनों धारणाएँ एक दूसरे पर आश्रित है, एक दूसरे के पूरक हैं।

## 12.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

स्वतंत्रता, समानता, न्याय, राजनीतिक अवधारणाएँ, राजनीति दर्शन, प्रभुसत्ता, प्रतिबन्ध, सर्वांगीण, प्राकृतिक, सामाजिक, नागरिक, मर्यादित कानून, राजनीतिक अधिकार, समुचित सुरक्षा, निरस्त्रीकरण, संरक्षण, लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था, लोगों की जागरूकता, सामाजिक परिवर्तन, बहुमुखी धारणा। भेद-भाव, नागरिकता, अन्यवहारिक, आदर्शमात्र, राजनीतिक मूल्य, विशेषाधिकारी, समाजवादी व्यवस्था, सांस्कृतिक, साम्प्रदायिक समुदाय, मौलिक आवश्यकताएँ

## 12.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 12.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उसके उत्तर

1. स्वतंत्रता का अर्थ है

(क) प्रतिबन्धों का अभाव

(ख) अनुचित प्रतिबन्धों का अभाव ताकि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके

(ग) कुछ प्रतिबन्ध

**उत्तर - (ख)**

2. समानता का अर्थ है–

(क) सबों के साथ समान व्यवहार

(ख) सबों के लिए समान अवसर

(ग) अधिकारों के रूप में जो सुविधाएँ मुझे प्राप्त हैं वह दूसरों को भी प्रदान किए जाएँ।

(उत्तर -ग)

### 12.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता का क्या अर्थ है ? इसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 3.1 और 3.2)

2. 'समानता' किसे कहते हैं ? इसके विशेष रूपों की व्याख्या करें।

   (उत्तर - उपविषय 3.3 और 3.4)

3. न्याय की परिभाषा दें। इसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा करें।

   (उत्तर - 3.5 और 3.6)

### 12.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय के सम्बन्धों की जाँच करें।

2. स्वतंत्रता, समानता तथा न्या को परिभाषित करें। ये तीनों किस प्रकार एक दूसरे पर आश्रित है, टिप्पणी करें।

## 12.7 प्रस्तावित पाठ


(1) Problems of Political Philosophy – D. D. Raphad

(2) राजनीति सिद्धान्त – M. P. Jain

(3) समकालीन राजनीति सिद्धान्त – J. C. Johari


❖❖❖❖

# राजनीतिक अवधारणाएँ - अधिकार एवं कर्त्तव्य

पाठ संरचना


13.1 उद्देश्य

13.2 विषय - प्रवेश

13.3 मुख्य विषय - अधिकार एवं कर्त्तव्य में संबंध

- 13.3.1 उपविषय - अधिकार की परिभाषा
- 13.3.2 उपविषय - अधिकार के लक्षण
- 13.3.3 उपविषय - अधिकार के प्रकार
- 13.3.4 उपविषय - अधिकारों के प्रमुख सिद्धान्त
- 13.3.5 उपविषय - अधिकारों के संरक्षण
- 13.3.6 उपविषय - कर्त्तव्य की परिभाषा
- 13.3.7 उपविषय - कर्त्तव्य के प्रकार
- 13.3.8 उपविषय - अधिकार तथा कर्त्तव्य का संबंध
- 13.3.9 उपविषय - निष्कर्ष

13.4 सारांश

13.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

13.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 13.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 13.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 13.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

13.7 प्रस्तावित पाठ


## 13.1 उद्देश्य

अधिकार की अवधारणा एक ओर तो मनुष्य की स्वतंत्रता में अभिव्यक्त होती है तथा दूसरी ओर राज्य के कार्य - क्षेत्र में अभिव्यक्त होती है। अधिकार कर्त्तव्य के साथ जुड़े हुए हैं। अतः अधिकार और कर्त्तव्य की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह जानना है कि इनका संबंध क्या है। इसी उद्देश्य के साथ हम सर्वप्रथम अधिकार के अर्थ, परिभाषा तथा मुख्य लक्षणों की चर्चा करेंगे। इसके बाद हम अधिकार के प्रकारों एवं उसके विभिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे। फिर हम अधिकार के संरक्षण के तरीकों को देखेंगे। अधिकार के विभिन्न पक्षों को देखने

के पश्चात् हम कर्त्तव्य की परिभाषा तथा उसके विभिन्न प्रकारों की चर्चा करेंगे। अंत में हम अधिकार और कर्त्तव्य के संबंधों की जाँच करते हुए निष्कर्ष पर आएंगे।

## 13.2 विषय - प्रवेश

आदर्शमूलक राजनीतिक सिद्धान्त का लक्ष्य है कि नियमानुसार आचरण की व्याख्या करें तथा इस बात की खोज करें कि मनुष्य का सुख किसमें है तथा उसके व्यक्तित्व का विकास कैसे होगा ? अधिकारों का अपना महत्व है, विशेषकर इसलिए भी कि यह एक ऐसा विषय है जिसमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा राज्य-सत्ता के सम्बन्ध उभर आते हैं। इसलिए लास्की महोदय ने भी कहा है कि अधिकारों के अभाव में स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रहेगा, यथा, "Every state is known by the rights it maintains."

साधारण शब्दों में, अधिकार व्यक्ति की माँग है जिसे समाज एवं राज्य स्वीकार करता है। अतः अधिकार की परिभाषा में तीन प्रमुख तत्व हैं- सर्वप्रथम, अधिकार व्यक्ति की माँग है। वह माँग सामान्य हित में होना चाहिए। दूसरा, इन्हें समाज द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए तथा तीसरा, अधिकारों को राजनीतिक स्वीकृति भी मिलनी चाहिए। इस प्रकार, अधिकार का तभी कोई महत्त्व होगा, जब उसमें ऊपर वर्णित तीनों लक्षण होंगे।

अधिकार के साथ ही कर्त्तव्य भी जुड़े हुए हैं। अधिकार और कर्त्तव्य साथ ही साथ चलते हैं। यदि मुझे समाज, राज्य तथा अन्य व्यक्तियों की ओर से कुछ अधिकार प्राप्त हैं तो हमारा उनके प्रति कुछ कर्त्तव्य भी है।

अतः, अधिकार और कर्त्तव्य आपस में निकट रूप से संबंधित हैं।

## 13.3 मुख्य विषय : अधिकार और कर्त्तव्य में संबंध

अधिकार और कर्त्तव्य परस्पर संबंधी पद हैं। दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ उससे संबंधित कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं। अधिकार कर्त्तव्य पर निर्भर करते हैं। "It is only in the world of duties that rights have significance." मुझे समाज, समाज में रहनेवाले व्यक्ति राज्य आदि की ओर से कुछ अधिकार मिले हैं, अतः उनके प्रति हमारे कुछ कर्त्तव्य भी हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य के परस्पर संबंध को बृहत रूप से देखने से पहले हम अधिकार और कर्त्तव्य की परिभाषा, लक्षण एवं रूप देखेंगे।

### 13.3.1 उपविषय : अधिकार की परिभाषा

अधिकार का अंग्रेजी पर्याय "Right" है जिसकी परिभाषा राजनीतिक विचारकों ने इस प्रकार दी है :-

(1) लास्की के अनुसार अधिकार, ''व्यक्ति की ऐसी माँगें हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत हों। राज्य इन माँगों का निर्माण नहीं करता वरन् इन्हें केवल स्वीकार करता है।''

(2) ग्रीन - ''अधिकार वह शक्ति है जिसे सामान्य शुभ के रूप में स्वीकार किया जाता है।'' (A right is a power claimed and recognized as contributory to common good.)

(3) Srinavas Shastri के अनुसार, "In its essence, a right is an arrangement, rule or practice sanctioned by law of the community and conducive to the righest moral good of the citizen."

(4) Bosanquet के अनुसार, "We have a right to the means that are necessary to the development of our lives in the direction of the highest good of the community of which we are a part."

### 13.3.2 उपविषय : अधिकार के लक्षण

उपर्युक्त परिभाषा से अधिकार के ये लक्षण दिखते हैं :

(1) अधिकार व्यक्ति की माँग है जिसे समाज एवं राज्य स्वीकार करता है।

(क) अतः सर्वप्रथम, अधिकार की माँग है, परन्तु जो एक व्यक्ति की माँग होगी, वह सामान्य हित में होना चाहिए।

(ख) अधिकार को समाज के द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए।

(ग) अधिकारों को राजनीतिक स्वीकृति भी मिलनी चाहिए अर्थात् इसे राज्य द्वारा स्वीकृति मिलनी चाहिए।

इस प्रकार, अधिकारों का त्रिविध स्वरूप होता है। अधिकारों का स्वरूप ''भौतिक'' इस अर्थ में है कि वे व्यक्ति की यथार्थ इच्छा शक्ति पर आधारित हैं तथा समाज द्वारा मान्य हैं। वे ''वैधानिक'' हैं इस अर्थ में कि वे राज्य के कानून द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं। राजनीति के क्षेत्र में हम व्यक्ति के उन ''नैतिक'' अधिकारों से सम्बन्ध है जिसे उचित समझने पर राज्य कानून के रूप में लागू करता है।

(2) एक अर्थ में अधिकारों का राजनीति पूर्व (Pre-political) स्वरूप भी होता है। अधिकारों का अस्तित्व है चाहे उन्हें राज्य मान्यता दे अथवा नहीं। अधिकार राज्य से स्वतंत्र रह सकते हैं, लेकिन समाज में स्वतंत्र नहीं रह सकते हैं।

(3) अधिकारों का प्राकृतिक, सामाजिक एवं उपयोगितावादी स्वरूप होता है।

(4) अधिकार अमूर्त नहीं होते हैं, उन्हें व्यवहार में लाना आवश्यक है।

(5) अधिकार निरपेक्ष नहीं होते हैं। यदि आवश्यकता हो तो अधिकार के स्वरूप में परिवर्तन लाया जा सकता है।

(6) अधिकारों का राज्य के कार्यों के साथ भी सम्बन्ध होता है। सैद्धान्तिक रूप में, व्यक्ति के अधिकार तथा राज्य के कार्य अलग-अलग हों लेकिन व्यवहार में वे अलग नहीं हैं।

(7) अधिकार के साथ-साथ कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(8) अधिकार का सम्बन्ध स्वतंत्रता, कानून, न्याय, प्रभुसत्ता आदि के साथ आवश्यक रूप में हैं।

### 13.3.3 उपविषय : अधिकारों के प्रकार

अधिकार के कई प्रकार हैं :

**(1) नैतिक अधिकार** - नैतिक अधिकार वे हैं जो व्यक्ति की नैतिक इन्द्रिय पर आधारित हैं तथा जो समाज का अन्तःकरण है। उदाहरणस्वरूप, एक शिक्षक का यह नैतिक अधिकार है कि उसे समाज से प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

**(2) वैधानिक अधिकार** - वैधानिक अधिकार देश के कानून में निहित होता है तथा राज्य और कानून के द्वारा स्वीकार किए गए हैं। Dr. Leacock के अनुसार, "A legal right is a privilege or immunity enjoyed by a citizen against any of his fellow citizen, granted by sovereign power of the state and upheld by the state."

वैधानिक अधिकार तीन प्रकार के हैं :

**(क) नागरिक अधिकार या सामाजिक अधिकार** – ये एक सभ्य जीवन का आवश्यक माँगों पर आधारित है तथा व्यक्ति के जीवन एवं सम्पत्ति से सम्बन्धित हैं। सबसे महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार है - ''जीने का अधिकार।''

**(ख) राजनीतिक अधिकार** – इनका सम्बन्ध मनुष्य का राज्य के कार्यों में भाग लेने से सम्बन्धित है। जैसे ''वोट देने का अधिकार।''

**(ग) आर्थिक अधिकार** - ये मनुष्य जीवन के आर्थिक पक्ष से संबंधित हैं जैसे काम करने का अधिकार, उचित वेतन पाने का अधिकार आदि।

**(3) मानव - अधिकार** - 1948 में U.N.O. की General Assembly ने Human Rights Commission के Universal Declaration of Human Rights को मान्यता दी थी। तब नये रूप में कुछ मानव - अधिकारों का सृजन हुआ। उदाहरणस्वरूप - मानव अधिकार यह मानता है कि सभी मनुष्य बराबर जन्म लेते हैं तथा अधिकार और प्रतिष्ठा में सब बराबर हैं।

**(4) मौलिक अधिकार** - ये व्यक्ति के वे अधिकार हैं जो राष्ट्र के संविधान में निहित है। भारतीय संविधान के भाग III में मौलिक अधिकारों की चर्चा हुई है - जैसे समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार आदि।

इस प्रकार, मनुष्य को अनेक प्रकार के अधिकार मिले हैं जो अंग्रेजी में इस प्रकार से हैं :

(1) Moral Rights

(2) Legal Rights

(a) Civil and Social Rights

(b) Political Rights

(c) Economic Rights

(3) Human Rights

(4) Fundamental Rights

### 13.3.4 उपविषय : अधिकारों के प्रमुख सिद्धान्त

समय के साथ - साथ अधिकार के स्वरूप को लेकर कई सिद्धान्त पाये जाते हैं :

**(1) प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Natural Theory of Rights)** : इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने अधिकारों का उसी तरह मालिक है जैसे अपने हाथ, पाँव, आँख आदि का। ये अधिकार जन्मजात हैं। इस सिद्धान्त को हम ग्रोशियस, हुकर, जॉन लॉक, अमरीका के संविधान में लिखित अधिकारों की घोषणा तथा 1789 की फ्रांसिसी क्रांति की विचारधारा में देखते हैं। इस विचार के प्रमुख प्रवर्तक जॉन लॉक हैं जिनके अनुसार जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार सर्वथा प्राकृतिक हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में बेन्थम तथा मिल और ग्रीन तथा Bosanquet ने प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना करते हुए कहा है कि प्राकृतिक अधिकार का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं है। यह सिद्धान्त स्वतंत्रता एवं समानता की धारणा का समन्वय नहीं कर पाता है। इसके अतिरिक्त जब तक अधिकारों को राज्य के द्वारा मान्यता नहीं मिलती है तब तक उसका कोई मोल नहीं है। Dr. Bosanquet के अनुसार, "A right is a claim recognised by the society and enforced by the State."

**(2) अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त (Legal Theory of Rights)** : इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार केवल ऐसी माँगे हैं जिन्हें राज्य का कानून मान्यता प्रदान करता है। इन माँगों के पूरा न होने पर व्यक्ति नगरपालिका के द्वार पर जाकर क्षतिपूर्त्ति की माँग कर सकता है। इस विचार के सुप्रसिद्ध प्रवर्त्तक टॉम्स हॉब्स, बोथम और ऑस्टिन हैं।

आलोचकों का कहना है कि अधिकारों का कानूनी सिद्धान्त बहुत संकुचित है। राज्य अथवा कानून के अतिरिक्त अधिकारों के कई स्रोत और हैं - रीति - रिवाज, परम्परा, इतिहास, नैतिकता आदि भी अधिकार के स्वरूप का निर्धारण करते हैं।

**(3) अधिकारों का ऐतिहासिक सिद्धान्त (Historical Theory of Rights)** - इस सिद्धान्त के अनुसार अधिकार इतिहास की उपज है। इस सिद्धान्त के एक प्रवर्त्तक बर्ड के अनुसार अधिकार ऐतिहासिक उपलब्धियाँ हैं। समाज दीर्घकालीन विकास के दौरान विभिन्न वर्ग एवं समूह अपना-अपना स्थान प्राप्त करके समाज में सामंजस्य तथा सहयोग पैदा करते हैं। ये सामंजस्य तथा सहयोग समाज की आत्मा हैं। बर्ड के अनुसार फ्रांसीसी क्रांति मनुष्य के अमूर्त अधिकारों पर आधारित थी तथा अंग्रेजी क्रांति मनुष्य के अमूर्त अधिकारों पर आधारित थी। जर्मन लेखक हेगेल और अंग्रेज लेखक ब्रैडले भी इसी सिद्धान्त के समर्थक थे।

आलोचकों का कहना है कि हमारे कुछ अधिकार परम्परा एवं रीति-रिवाज पर आधारित हैं, पर सभी अधिकार इन पर आधारित नहीं हैं।

**(4) अधिकारों का समाज-कल्याणकारी सिद्धान्त (Welfare Theory of Right)** - यह सिद्धान्त मुख्यत: उपयोगितावादी विचारक जैसे मिल और बेन्थम की देन है। इनके अनुसार अधिकार समाज की देन है और अधिकारों का अस्तित्व समाज कल्याण पर आधारित है। अधिकारों से अभिप्राय उन सुविधाओं से है जो समाज में रहते हुए अधिकतम सुख की प्राप्ति में सहायक होती हैं। लास्की कहते हैं, "We have right so that we may contribute to common good and only those rights should be recognised without which society does not realize its highest end."

आलोचकों का कहना है कि यद्यपि जनकल्याण अधिकारों का उचित आधार है, पर इसकी परिभाषा देना कठिन है- अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख किसमें है ? यह कह पानां संभव नहीं है।

**(5) अधिकारों का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealist Theory of Right)** - अधिकारों का यह सिद्धान्त अधिकारों की उत्पत्ति के स्थान पर उनके स्वरूप और उद्देश्य की व्याख्या पर अधिक बल देता है। इसके अनुसार व्यक्ति की कुछ शक्तियाँ होती हैं जिनके विकास के लिए कुछ सुविधाएँ आवश्यक हैं। यही सुविधाएँ समाज के द्वारा स्वीकृत होने पर तथा राज्य द्वारा व्यक्ति को प्रदान किए जाने पर अधिकार का रूप ले लेती हैं। इस सिद्धान्त का प्रमुख प्रवर्त्तक जर्मन विचार कांट था। ग्रीन ने भी कहा "अधिकार मनुष्य के आंतरिक विकास की बाह्य आस्थाएँ हैं।

आलोचकों का कहना है कि इस सिद्धान्त में जहाँ राज्य की महत्ता स्वीकार की जाती है, वहीं व्यक्ति की महत्ता का अन्त हो जाता है।

अत: हम यह कह सकते हैं कि अधिकारों के समाज-कल्याणकारी तथा अधिकारों के आदर्शवादी सिद्धान्तों का समन्वय हमारी आवश्यकता की पूर्त्ति कर सकता है।

### 13.3.5 उपविषय : अधिकार के संरक्षण

विचारकों में इस बात पर मतभेद है कि अधिकारों के संरक्षण का सबसे उचित तरीका क्या है? कुछ लोगों के अनुसार अधिकारों की रक्षा के लिए उन्हें एक लिखित संविधान में निहित करना आवश्यक है। किन्तु, अनुभव इस बात का समर्थन नहीं करता है। यह पाया जाता है कि यद्यपि अधिकार संविधान में निहित होते हैं, फिर भी इस बात की कोई गारंटी नहीं है कि राष्ट्रीय आपातकालीन अवस्था में या संकटकाल में व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रहेंगे। लॉस्की ने ठीक ही कहा है, "Rights are not merely, or even greatly, a matter of written record."

इस प्रकार, नागरिकों को अधिकार दे देना ही पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही साथ उनका संरक्षण होना भी आवश्यक है। ये संरक्षण इस प्रकार के हैं :

(1) नागरिकों का सबसे महत्वपूर्ण अधिकार जो उसे अपने देश के कानून की ओर से प्राप्त है वह है "मौलिक अधिकार"। मौलिक अधिकार की रक्षा संविधान द्वारा होती है तथा देश की कानून व्यवस्था, कोर्ट इत्यादि के द्वारा भी होती है।

(2) देश के प्रेस तथा समाचार पत्र आदि भी अधिकारों का संरक्षण करते हैं। अत: देश में स्वतंत्र तथा ईमानदार प्रेस (Free and honest press) का होना भी अति आवश्यक है।

(3) राज्य को विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को भी अपनाना आवश्यक है, ताकि शक्ति किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित न हो। इससे भी अधिकारों का संरक्षण होता है।

(4) सरकार को किसी भी निर्णय लेने से पहले सलाहकारी समितियों से सलाह-मंत्रणा करना आवश्यक है।

(5) राज्य को स्वयंसेवी संस्थाओं के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करना नहीं चाहिए।

(6) अधिकारों का सबसे महत्वपूर्ण संरक्षण है सबल एवं प्रभावशाली जनमत का होना। लोगों की जागरूकता अधिकारों का सबसे महत्वपूर्ण संरक्षण है।

इस प्रकार, हमे अपने अधिकारों के संरक्षण के बारे में जानकारी होना नितान्त आवश्यक है।

### 3.6 उपविषय : कर्त्तव्य की परिभाषा

अधिकार कर्त्तव्य के साथ जुड़े हुए हैं। पत्येक व्यक्ति के अधिकार उसके कर्त्तव्य उदाहरणस्वरूप, राज्य के राज्यपाल को उसके चपरासी की अपेक्षा अधिक अधिकार है क्योंकि समाज के प्रति उसकी देन है, वह चपरासी की देन से अधिक है। इस प्रकार कर्त्तव्य एक प्रकार का नैतिक ऋण है जो हमे चुकाना है। यह ऋण अपने प्रति या अन्य व्यक्तियों के प्रति अर्थात् कर्त्तव्य अपने प्रति या अन्य व्यक्तियों के प्रति होता है। जो कर्त्तव्य हमारा अन्य व्यक्तियों के प्रति है, वही उनकी हमसे माँग है। उसे पाना उनका हक है जिसे हम अधिकार कहते हैं। अत: अधिकार नैतिक माँगें हैं। जो हमारा अन्य के प्रति कर्त्तव्य है, वह उनका अधिकार है। इसी प्रकार जो उनका कर्त्तव्य है, वह हमारा अधिकार है।

इस प्रकार, अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं। जो कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता है, उसे उन अधिकारों को भी भोगने का कोई हक नहीं है।

L. T. Hobhouse का कहना है, "Rights and duties, then are conditions of social welfare or as we define such welfares of a life of harmony. To this welfare, every member of the community stands in a double relation. He has a share in it. This is the sum of his rights. He has to contribute his share. That is the sum of his duty."

### 13.3.7 उपविषय : कर्त्तव्य के प्रकार

एक सभ्य समाज के नागरिकों को जिन कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए, वे निम्नलिखित हैं-

(1) प्रत्येक व्यक्ति का अपनी ओर कर्त्तव्य है। उसे अच्छा स्वास्थ्य कायम रखना है। एक बीमार व्यक्ति समाज पर बोझ है। अगर प्रत्येक व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रहे, तो समाज बहुत उन्नति करेगा।

(2) प्रत्येक व्यक्ति का उसके परिवार के प्रति भी कर्त्तव्य है। उसे अपनी बीबी-बच्चों की उचित देखभाल करनी चाहिए।

(3) प्रत्येक व्यक्ति का पड़ोसियों के प्रति भी कर्त्तव्य है। उसे पड़ोसियों के प्रति प्रेम एवं सहयोग की भावना रखनी चाहिए।

(4) प्रत्येक व्यक्ति का राज्य के प्रति भी कर्त्तव्य है। राज्य के प्रति उसका कर्त्तव्य परिवार, पड़ोसियों के प्रति कर्त्तव्य से ऊँचा है।

(5) प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश के कानून को माने।

(6) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी क्षमता के अनुसार राज्य को कर देना चाहिए।

(7) प्रत्येक अच्छे नागरिक को लोक हित की भावना से युक्त (Public spirited) होना चाहिए। उसे अपने देश के हर व्यक्ति की सेवा में गर्व महसूस होना चाहिए।

(8) प्रत्येक व्यक्ति को अपने वोट देने के अधिकार का उचित प्रयोग करना चाहिए।

(9) प्रत्येक व्यक्ति को अपने सरकारी अफसरों को काम करने में सहायता पहुँचानी चाहिए।

(10) प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह हर प्रकार के अन्याय के विरूद्ध लड़े।

(11) प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है वह देश के लिए कठोर परिश्रम करे।

(12) प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह देश के स्थानीय निकायों (Local bodies) की सेवा करे।

इस प्रकार, अधिकारों की परिभाषा में कर्त्तव्य भी होते हैं।

### 13.3.8 उपविषय : अधिकार और कर्त्तव्य में संबंध

अधिकार और कर्त्तव्य में अन्योन्याश्रय संबंध है। Dr. Beni Prasad ने इस संबंध को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है, "Rights and duties are interdependent, they are two aspects of the same thing. If one looks at them from one's own standard, they are rights. If one looks at them from the standard of others, they are duties. Both are social and both are, in substances, conditions of right to be secured to all members of society. It is futile to consider whether rights are prior to duties or vice-versa. They are counter part of each other."

अतः अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं। दोनों ही समाज के प्रति हमारी माँगे हैं। यदि कोई व्यक्ति अपने सम्बन्ध में उन्हें देखता है तो वे उसके अधिकार हो जाते हैं और यदि उन्हें समाज या अन्य व्यक्ति के सम्बन्ध में देखा जाय तो वे कर्त्तव्य कहलाते हैं।

### 13.3.9 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे पर निर्भर हैं। कर्त्तव्य और अधिकार एक ही तथ्य के दो पहलू हैं जो मेरी माँग किसी से है जो मेरा अधिकार है, वही उसका मेरे प्रति कर्त्तव्य हो जाता है। जो हमारा अन्य के प्रति कर्त्तव्य है वही उनका अधिकार है। अतः अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं।

## 13.4 सारांश

इस प्रकार हमने देखा कि अधिकार और कर्त्तव्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अवधारणाएँ हैं। राजनीतिक अवधारणाएँ होने के साथ ही साथ इनका व्यक्ति के जीवन में भी महत्वपूर्ण स्थान है। अधिकार व्यक्ति की वे माँगें अथवा स्वतंत्रताएँ हैं जिन्हें समाज ने स्वीकारा है। कर्त्तव्य व्यक्ति का समाज को अपनी ओर से देन है। अतः अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं।

कर्त्तव्य भी अधिकार की भाँति व्यक्तियों के सम्बन्ध पर निर्भर है अर्थात् समाज पर। यह भी समाज द्वारा स्वीकृत है। समाज से अलग कोई कर्त्तव्य नहीं होता। सामाजिक हित और उसी के अन्तर्गत वैयक्तिक हित के लिए ही कर्त्तव्य है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि अधिकार और कर्त्तव्य में निकट संबंध है। दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित हैं।

## 13.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

अधिकार, कर्त्तव्य, स्वतंत्रताएँ, आदर्शमूलक राजनीतिक सिद्धान्त, नैतिक, उपयोगितावादी, राजनीतिक स्वीकृति, अन्तःकरण, मौलिक अधिकार, मानव अधिकार, प्राकृतिक अधिकार, मान्यता, समाज-कल्याणकारी, लोकहित भावना, स्थानीय निकायों, राजनीतिक अवधारणाएँ, नैतिक ऋण, विकेन्द्रीयकरण।

## 13.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 13.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. अधिकार

(क) व्यक्ति की मांगें हैं

(ख) समाज द्वारा स्वीकृत हों

(ग) राज्य द्वारा स्वीकृत हों

(घ) तीनों हों

**उत्तर - (घ)**

2. कर्त्तव्य

(क) अधिकार से स्वतंत्र हैं,

(ख) अधिकार से जुड़े हैं।

(ग) दोनों

(घ) कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 13.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकार के प्रमुख लक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर उपविषय 132)

2. अधिकार से संबंधित भिन्न सिद्धान्तों की चर्चा करें।

(उत्तर उपविषय 13.4)

3. व्यक्ति के प्रमुख कर्त्तव्यों का विवरण दें।

(उत्तर उपविषय 13.7)

### 13.6.2 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अधिकार और कर्त्तव्य में अन्योन्याश्रय संबंध है। विवेचना करें।

## 13.7 प्रस्तावित पाठ


(1) राजनीति सिद्धान्त – Eddy Asirvatham

(2) समकालीन राजनीति दर्शन – J. C. Johari

(3) राजनीति सिद्धान्त – M. P. Jain

# राजनीतिक धारणाएँ - शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता

पाठ संरचना


14.1 उद्देश्य

14.2 विषय - प्रवेश

14.3 मुख्य विषय - शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता में संबंध

- 14.3.1 उपविषय - 'शक्ति' का अर्थ एवं परिभाषा
- 14.3.2 उपविषय - शक्ति के सिद्धांत
- 14.3.3 उपविषय - शक्ति के प्रकार
- 14.3.4 उपविषय - प्रभाव का अर्थ
- 14.3.5 उपविषय - सत्ता का अर्थ
- 14.3.6 उपविषय - शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता का संबंध
- 14.3.7 उपविषय - शक्ति की आलोचना
- 14.3.8 उपविषय - निष्कर्ष

14.4 सारांश

14.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

14.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 14.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 14.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 14.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

14.7 प्रस्तावित पाठ


## 14.1 उद्देश्य

शक्ति प्रभाव तथा सत्ता समानार्थक शब्द प्रतीत होते हैं जबकि ऐसा नहीं है। शक्ति प्रभाव तथा सत्ता से भिन्न या अलग है। यदि शक्ति, प्रभाव तथा सत्ता का अर्थ स्पष्ट नहीं किया जाए तो भ्रम उत्पन्न हो सकता है। इसी उद्देश्य से इस पाठ की संरचना की गयी है। सर्वप्रथम, 'शक्ति' का अर्थ एवं परिभाषा दी जाएगी। फिर शक्ति से संबंधित विभिन्न सिद्धांतों का उल्लेख किया जाएगा। शक्ति के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की जाएगी। इसके बाद हम प्रभाव तथा सत्ता का अर्थ स्पष्ट करेंगे। इसके पश्चात् हम शक्ति, प्रभाव तथा सत्ता के सम्बन्धों की चर्चा करेंगे। अंत में हम शक्ति की अवधारणा की समीक्षा करेंगे और फिर निष्कर्ष तथा सारांश लिखेंगे।

## 14.2 विषय प्रवेश

शक्ति की धारणा राजीनतिक सिद्धांत की एक प्रमुख धारणा है। आधुनिक युग में शक्ति की धारणा का राजनैतिक विचारधारा में अत्यधिक महत्त्व हो गया है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आज 'राजनीति' का अर्थ 'राज्य का अध्ययन' न होकर ''शक्ति का अध्ययन'' हो गया है। जैसा कि Curtis का कहना है, ''Politics is an organised despute of power and its use, involving choice among competing values, ideas, persons, interests and demand.''

'शक्ति' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में किया गया है। 'शक्ति' शब्द प्रयोग विभिन्न संदर्भो में विभिन्न वस्तुओं के लिए किया गया है। जैसे हम कहतें हैं-राजनीतिक शक्ति, सामाजिक शक्ति, मनोवैज्ञानिक शक्ति, आध्यात्मिक शक्ति, मस्तिष्क शक्ति, प्रशासनिक शक्ति, सैन्य शक्ति इत्यादि। शक्ति के इन सभी रूपों में जो सबसे सामान्य तथ्य है वह प्रत्येक प्रकार के शक्ति में पाई जाती है, वह है 'योग्यता' या 'क्षमता'।

कई बार 'शक्ति' का प्रयोग अन्य धाारणाएँ जैसे प्रभाव, सत्ता नियंत्रण, आधिपत्य, नेतृत्व आदि के पर्याय के रूप में किया गया है, मगर शक्ति इन सबसे अलग है।

प्रभाव 'शक्ति' को और स्वच्छ और शुद्ध करता है। सत्ता शक्ति को नैतिक बनाने की चेष्टा करता है। इन सबों का अर्थ एवं परिभाषा, इनके बीच का संबंध विस्तृत रूप से अब हम देखेंगे।

## 14.3 मुख्य विषय-शक्ति, प्रभाव तथा सत्ता में सम्बंध

शक्ति की धारणा को अन्य धारणाओं जैसे प्रभाव, सत्ता, नियंत्रण, आधिपत्य, नेतृत्व, आदि के समान अथवा इनका पर्याय माना गया है जबकि शक्ति इन सबसे अलग है। प्रभाव शक्ति के समान नहीं है और न ही सत्ता शक्ति के समान है। यद्यपि कुछ पक्षों में वे समान हैं किन्तु कई पक्षों में वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता के सम्बन्ध यदि अस्पष्ट होंगे तो भ्रम उत्पन्न होगा।

हम शक्ति, प्रभाव तथा सत्ता के सम्बन्धों की चर्चा से पूर्व इनके अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा करेंगे, इनके विभिन्न रूपों को देखेंगे ताकि इनके संबंध को जानने में आसानी हो।

### 14.3.1 उपविषय-'शक्ति' का अर्थ एवं परिभाषा

'शक्ति' जिसे अंग्रेजी में ''Power'' कहा जाता है लैटिन शब्द ''Potestas'' और फ्रेंच शब्द ''Powoier'' से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है ''to be able.'' इस प्रकार, अंग्रेजी में 'शक्ति' शब्द का अर्थ है ''ability or capacity'' अथवा ''योग्यता या क्षमता''। D.D. Raphad ''The most general meaning of power is simply ability or capacity.''

चूँकि 'शक्ति' शब्द का प्रयोग सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक संदर्भो में किया गया है, अतः इसके अनेकों अर्थ देखेने को मिलते हैं। जहाँ एक ओर राजनीतिज्ञों ने शक्ति की ाारणा को परिभाषित किया है वहीं दूसरी ओर दार्शनिकों ने भी इसकी धारणा की परिभाषा देने की चेष्टा की है। यही कारण है कि ''शक्ति'' की ठोस परिभाषा देना कठिन है।

आर० एच० टावनी ने शक्ति की परिभाषा देते हुए कहा, ''यह एक व्यक्ति या समूह की क्षमता है जिस तरह से वह इच्छा करता है।''

प्रोफेसर हेन्स मोरजेन्थी के अनुसार, ''शक्ति से अभिप्राय एक मनुष्य की दूसरे व्यक्तियों के कार्यो तथा मनों

पर शक्ति है। यह एक प्रकार से दोनों के मानोवैज्ञानिक सम्बन्ध हैं जिनके हाथ में सत्ता होती है और जिन पर सत्ता का प्रयोग किया जाता है।''

हरबर्ट गोल्डहेमर तथा एडवर्ड शिल्स के अनुसार, ''शक्ति अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरों को प्रभावित करने की योग्यता है।''

अभिलक्षण (Implications)

शक्ति की धारणा के निम्नलिखित लक्षण हैं–

(1) शक्ति एक सामाजिक पहलू (Social Phenomenon) है, न केवल एक राजनीतिक अथावा आर्थिक पहलू है।

(2) शक्ति अव्यक्त force है तथा force व्यक्त शक्ति है और सत्ता संस्थापित शक्ति है।

(3) शक्ति जिसकी अभिव्यक्ति किसी प्रकार के सामाजिक विरोध में होती है उसे हम अलग-अलग तरीकों में अलग-अलग संस्थाओं में तथा भिन्न-भिन्न सभ्य एवं असभ्य समाज में देखते हैं।

(4) शक्ति के स्रोत तथा उसके आवश्यक अवयव सदस्यों के समूह, समाजिक संगठन, इत्यादि में पाए जाते हैं।

(5) 'शक्ति' की धारणा को प्रभुता, प्रभाव, सत्ता, आधिपत्य, सम्मान आदि की धारणा से अलग करके जानना आवश्यक है, क्योंकि अधिकांशतः इन्हें पर्यायवाची माना जाता है।

'शक्ति' की धारणा के समर्थक-

यद्यपि 'शक्ति' के समर्थक प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में पाए जाते हैं, फिर भी इस विचार के मुख्य समर्थक बीसवीं सदी में ही मिलते हैं। महान यूनानी इतिहासकार Thucididas; प्लेटो के ''Republic'' में Thrasymachus; मैक्यावली-सोलहवीं शताब्दी में शक्ति के सिद्धांत के समर्थक थे। समकालीन युग में कैटालिन, मैक्स वेबर, लासवेल, मेरियन, कैपलन, वाटकिन्स आदि शक्ति की धारणा के समर्थक हैं। ये राजनीति को शक्ति तथा शक्ति को राजनीति का मुख्य विषय मानते हैं।

### 14.3.2 उपविषय :शक्ति के सिद्धांत

शक्ति के तीन मुख्य सिद्धांत हैं-

(1) उदारवादी लोकतान्त्रिक सिद्धांत (Liberal-Democratic Theory)

(2) मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxist Theory)

(3) उच्च वर्गीय सिद्धांत (Elite Theory)

(1) उदारवादी लोकतान्त्रिक सिद्धांत – इस सिद्धांत के अनुसार शक्ति के दो प्रमुख पहलू हैं-

(क) Developmental

(ख) Extractive

शक्ति के Developmental पहलू को शक्ति का आदर्शमूलक एवं नैतिक स्वरूप माना जाता है। शक्ति के नैतिक अथवा आदर्शमूलक स्वरूप का अर्थ है-व्यक्ति की क्षमता का तथा उसके व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण विकास। इसलिए शक्ति के इस पक्ष को विकास Developmental पक्ष कहते हैं।

शक्ति के आनुभाविक (empirical or extractive) पक्ष का अर्थ है– दूसरों की क्षमताओं से फायदा निकालने की क्षमता। हॉन्स, मैक्स वेबर, मेकिआवली, लासवेल- ये सभी शक्ति के आनुभविक अथवा empirical पक्ष के समर्थक हैं।

(2) मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxist Theory)– इस सिद्धांत के अन्तर्गत शक्ति एक साधन है जो अर्थशास्त्र अथवा उत्पादन के साधनों को राजनीति अथवा सत्ताधारी वर्ग से जोड़ती है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक शक्ति अथवा वर्ग-शक्ति प्रभावशाली वर्ग की सामान्य अथवा व्यापक शक्ति है जिसके द्वारा वह समाज में आधिपत्य स्थापित करता है। राजनीतिक शक्ति की विजय मजदूर वर्ग की सफलता के लिए आवश्यक है। ऐसा न होने पर मजदूर वर्ग पूँजीवादियों द्वारा बुरी तरह शोषित होते रहेंगे। राजनीति की ही भाँति शक्ति भी एक क्षणिक पहलू है।

(3) उच्चवर्गीय सिद्धांत (Elite Theory)– यह सिद्धांत शक्ति के मार्क्सवादी सिद्धांत का खंडन करता है। इनके अनुसार राजनीतिक शक्ति सम्पत्ति के स्वामित्व से नहीं बल्कि राजनीतिक तथा सत्ताधारी वर्ग से प्रवाहित होती है। इनके अनुसार राजनीति का सही ढंग से अध्ययन तब तक नहीं हो सकता है जब तक हम इसे सत्ताधारी वर्ग तथा उसके विभिन्न कर्त्तव्यों से नहीं जोड़ें।

### 14.3.3 उपविषय : शक्ति के प्रकार

किसी भी समाज में मुख्य रूप से तीन प्रकार की शक्तियाँ महत्त्व रखती हैं–

**(1) राजनीतिक शक्ति (Political Power)**– यह सिद्धांत बनाने की शक्ति है तथा सिद्धांत बनाने में प्रभाव डालने की शक्ति है। यह नियमों को लागू करने की शक्ति तथा नियम न पालन करने वाले लोगों को दण्ड देने की शक्ति है। राजनीतिक शक्ति समाज में अनुशासन, शक्ति, सुरक्षा एवं न्याय कायम करने के लिए जिम्मेदार है। समाज में राजनीतिक शक्ति, पुलिस, सेना, न्यायपालिका, राजनीतिज्ञों, वकीलों, विधायकों, कार्यपालिका, राजनीतिक दलों, आदि के हाथ में होती है।

**(2) आर्थिक शक्ति (Economic Power)**– इस सिद्धांत के अनुसार समाज में आर्थिक शक्ति पूँजीवादियों के हाथ में न होकर उन मैनेजरों के हाथ में होती है जो उद्योगों को संचालित करते हैं तथा पूँजी का नियन्त्रण करते हैं। इसलिए इसे ''Managerial Revolution'' या ''Managerialism'' कहा जाता है।

मार्क्सवाद का कहना है कि आर्थिक शक्ति उनके हाथ में होती है जो पूँजीपति हैं न कि उनके हाथ में जो पूँजी के अध्यक्ष (Manager) हैं, क्योंकि मैनेजर वर्ग पूँजीपति वर्ग के अंग नहीं हैं। ये पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतलियाँ हैं। राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति एक ही वर्ग में निवास करती है, वह वर्ग जो उत्पादन के साधनों का नियन्त्रण करता है।

**(3) आदर्शमूलक शक्ति (Ideological Power)**– यह शक्ति सत्ताधारी वर्ग को अपनी राजनीतिक शक्ति कायम रखने में मदद करती है। राज्य की आदर्शमूलक शक्ति चर्च, राजजनीतिक दलों, स्कूल, समाचार-पत्र, टी० वी०, व्यापार संगठनों में निवास करती है। यह शक्ति जनमत को सत्ताधारी वर्ग के पक्ष में लाने का कार्य करती है। किन्तु जब सत्ताधारी वर्ग की इस शक्ति को जनता की आदर्शमूलक शक्ति चुनौती देती है तो क्रांति होती है। हाँलाकि, राजनीति में शक्ति की धारणा के समर्थक राजनीतिक, आर्थिक एवं आदर्शवादी शक्ति के बीच कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं।

### 14.3.4 उपविषय : प्रभाव का अर्थ

प्रभाव की अवधारणा भी राजनीति विज्ञान के लिए महत्त्वपूर्ण है। लासवेल के अनुसार, ''राजनीति का अध्ययन प्रभाव तथा प्रभावशाली का अध्ययन है।'' प्रभाव के बल पर ही एक व्यक्ति अनेकों को अपने पक्ष में कर लेता है। प्रभाव को इसलिए प्रजातंत्र का हृदय कहा गया है। प्रभाव व्यक्तियों, समूहों, संगठनों या राज्यों के बीच ऐसा सम्बन्ध है जिसमें एक दूसरे को वैसा करने के लिए प्रेरित किया जाता है। जो वह पहले नहीं करता था।

### 14.3.5 उपविषय : सत्ता या प्राधिकार का अर्थ

किसी कार्य को करने के अधिकार को उस कार्य का प्राधिकार कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज-विज्ञानों के ज्ञान-कोष के अनुसार सत्ता को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है।

(i) किसी कार्यालय या व्यक्ति की सम्पदा के रूप में।

(ii) कार्यालय के वरिष्ठ एवं अधीनस्थ अधिकारियों के बीच सम्बन्ध के रूप में संचार का वह गुण जिसके आधार के रूप में उसे स्वीकार किया जाता है, किन्तु अपने सभी रूपों में सत्ता शक्ति, प्रभाव एवं नेतृत्व से जुड़ी हुई है।

(3) अधिकार सत्ता के साथ जुड़े हुए हैं। हरबर्ट ए० साइमाँ के अनुसार, "सत्ता-स्थिति तब मानी जाती है जब अधीनस्थ अथवा संबंधित व्यक्ति विभिन्न विकल्पों में से चयन करनेवाली अपनी मानसिक शक्तियों को स्थगित कर देते हैं और औपचारिक आदेश या संकेत की प्राप्ति को अपने चयन का मापदंड बना देते हैं।

### 14.3.6 उपविषय : शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता का संबंध

**(I) शक्ति एवं प्रभाव में संबंध**– कुछ विचारकों के अनुसार प्रभाव एवं शक्ति में घनिष्ठ संबंध है। इनके अनुसार तो प्रभाव शक्ति का एक प्रकार है। इस विचार के समर्थकों में कुछ ने शक्ति के अदमनात्मक स्वरूप को प्रभाव कहा है और कुछ शक्ति को व्यापक माना जाता है और शक्ति को दमनात्मक प्रभाव। साधारणत प्रभाव शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। प्रभाव के कई कारण हो सकते हैं, नैतिक बल, विद्वत्ता, शक्ति, आदि। पर इन सभी धारणाओं में दमनात्मक भावना का अभाव है। इसलिए प्रभाव और शक्ति के भेद को जानना अवश्यक है। प्रभाव और शक्ति में निम्नलिखित भेद है–

(1) शक्ति दमनात्मक भी हो सकती है पर प्रभाव अनुनयात्मक, स्वेच्छापूर्ण तथा मनोवैज्ञानिक होता है। यदि बल के प्रयोग द्वारा किसी बात के लिए दूसरों को नहीं चाहने पर भी तैयार करा लिया जाता है तो शक्ति दमनात्मक होती है। परन्तु वाक्शक्ति पर या अपनी बुद्धि या चरित्र के आधार पर यदि कोई कार्य कराया जाता है तो उसे प्रभावित करना कहा जाता है। इसे प्रभाव कहते हैं। अतः प्रभाव की छाप मस्तिष्क पर होती है और कार्य स्वेच्छा से होता है।

(2) शक्ति अप्रजातान्त्रिक भी हो सकती है पर प्रभाव प्रजातान्त्रिक होता है। शक्ति जब दमनात्मक होती है तो यह अप्रजातान्त्रिक होती है, पर प्रभाव स्वेच्छापूर्ण होता है, प्रजातान्त्रिक होता है।

(3) प्रभाव शक्ति प्रदान करता है और शक्ति प्रभाव। प्रभाव और शक्ति, परस्पर सम्बद्ध हैं।

**(II) शक्ति एवं सत्ता में संबंध**– कुछ विचारकों के अनुसार अपने सभी रूपों में सत्ता शक्ति से जुड़ी हुई है। जैसे वायर्सटेड के अनुसार, "सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है, वह स्वयं शक्ति न्हीं है।" ड्यूबिन ने सत्ता को संगठित समूह–स्थितियों में शक्ति का प्रकटीकरण माना है।

यूनेस्को की एक रिपोर्ट (1950) के अनुसार, "सत्ता एक शक्ति है जो कि स्वीकृत, सम्मानित, ज्ञात एवं औचित्यपूर्ण है। लासवैल एवं कैपलन ने भी सत्ता को औपचारिक शक्ति कहा है।

बच्राश एवं बाराज सत्ता के संबन्ध में अपने पृथक विचार रखते हैं। वे वायर्सटेड, लासवैल, कैपलन, आदि विचारकों से सहमत नहीं हैं। यद्यपि वह सत्ता को शक्ति के निकट सम्बन्धित मानता है, लेकिन वह उसे शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं करता है। यदि किसी को भी शक्ति या कुछ करने की क्षमता होती, तो इसका यह अर्थ यह तो नहीं है कि उसे आदेश देने का अधिकार है तथा अगले को उसके आदेशों को मानने की आवश्यकता है। D.D. Raphael के शब्दों में, "Anybody has the power or ability to issue a command, but not everyone is authorised or entitled to do so in particular circumstances and not everyone is either able or entitled to have his commands carried out."

उसी प्रकार J.C. Johari कहते हैं, ''Authority is essentially the instiuttional code within which the use of power as a medium is organised and legitimised.''

अत: शक्ति को सत्ता से मिला देना भ्रांतिपूर्ण है। सत्ता का अस्तित्व शक्ति के अभाव में भी रहता है, क्योंकि सत्ता दूसरों को आदेश देने का अधिकार है। उसी प्रकार शक्ति भी सत्ता के अभाव में रह सकती है, जब शक्ति का अर्थ दमनात्मक शक्ति के रूप में लिया जाता है। शक्ति जब दमनात्मक रूप धारण कर लेती है, तो वह भी दूसरों को आदेश देती है और उनसे मनमाने कार्य करवा सकती है, जबकि उसे ऐसा करवाने का कोई अधिकार नहीं है।

### 14.3.7 उपविषय : शक्ति की आलोचना

'शक्ति' की अवधारणा पर कुछ विचारकों ने निम्नलिखित आक्षेप किए हैं–

(1) 'शक्ति' राजनीति सिद्धांत की एक प्रमुख धारणा है। राजनीतिज्ञ राजनीति को ''शक्ति का अध्ययन'' अथवा ''किस्सा कुर्सी का'' मानते हैं। आलोचकों के अनुसार जब विरोध का सामना करना होता है तो शक्ति दमनात्मक रूप धारण कर लेती है। किन्तु उदारवादी शक्ति के इस विचार की घोर आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि शक्ति राजनीति के अध्ययन का एक पहलू हो सकती है, किन्तु राजनीति का मुख्य सम्बंध सामाजिक शुभ अथवा जन-कल्याण से है।

(2) राजनीतिक शक्ति की अवधारणा का आदर्शमूलक एवं आनुभविक आधार विस्तार होना चाहिए। नियामक आधार पर शक्ति को एक मूल्यविहीन (Value Free) धारणा माना गया है। किन्तु राजनीति तो नियमों एवं मूल्यों पर आधारित है। अत: राजनीति को आदर्शमूलक होना चाहिए। राजनीति में शक्ति को प्रभाव, अनुनय आदि का रूप धारण करना चाहिए, न कि दमनात्मक रूप अपनाना चाहिए।

(3) शक्ति के मार्क्सवादी सिद्धांत की आलोचना इस आधार पर हुई है कि शक्ति का स्रोत न केवल अर्थशास्त्र है वरन् मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का भी प्रभाव है।

इस प्रकार, शक्ति की अवधारणा की आलोचना की गई है।

### 14.3.8 उपविषय : निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक अध्ययन में 'शक्ति' एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, परन्तु शक्ति ही राजनीति का एकमात्र आधार नहीं है। शक्ति एक साधन है, न कि लक्ष्य। राजनीतिक शक्ति को सामाजिक विकास का एक साधन मानना चाहिए, ताकि अधिक लोकतंत्र की स्थापना हो सके और समाज का सम्पूर्ण विकास हो सके।

## 14.4 सारांश

इस प्रकार, हमने राजनीति दर्शन में शक्ति की अवधारणा का अध्ययन किया है। हमने देखा कि 'शक्ति' का शाब्दिक अर्थ है 'योग्यता या क्षमता'। मगर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शक्ति भिन्न-भिन्न रूप धारण करती है। इस प्रकार शक्ति के अनेक रूप हैं-राजनीतिक, आर्थिक, आदर्शमूलक, आदि। शक्ति का आदर्शमूलक एवं आनुभविक आधार भी है।

हमने यह भी देखा कि शक्ति को प्रभाव, सत्ता आदि का पर्याय माना गया है। मगर शक्ति प्रभाव तथा सत्ता का समानार्थक नहीं है। इनमें कई प्रकार के अन्तर भी हैं।

अन्त में, हमने यह भी देखा कि 'शक्ति' की अवधारणा की आलोचना भी की गई है। शक्ति जब दमनात्मक रूप धारण कर लेती है तो वह आलोचना का विषय बन जाती है। शक्ति को हमेशा एक साध्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए, न कि साधन के रूप में।

## 14.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

शक्ति, प्रभाव, सत्ता, लोकतान्त्रिक सिद्धांत, पूर्णरूपेण विकास, आदर्शमूलक, आनुभाविक, सत्ताधारी वर्ग, वर्ग-शक्ति, पूँजीवादियों, दमनात्मक, आधिपत्य, भ्रांतिपूर्ण, कठपुतलियाँ, औपचारिक शक्ति, आदेश, अधिकार, उदारवादी, मूल्यविहीन, लोकतन्त्र, अनुशासन, औचित्यपूर्ण।

## 14.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 14.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. शक्ति के प्रकार हैं-

(क) राजनीतिक शक्ति

(ख) आर्थिक शक्ति

(ग) आदर्शमूलक शक्ति

(घ) ऊपर वर्णित सभी

**उत्तर - (घ)**

2. शक्ति-

(क) प्रभाव का पर्याय है

(ख) सत्ता का पर्याय है

(ग) प्रभाव तथा सत्ता से भिन्न है

(घ) बाध्यता का पर्याय है

**उत्तर - (ग)**

### 14.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'शक्ति' का क्या अर्थ है? इसकी परिभाषा के अभिलक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 14.3.1)

2. शक्ति के कितने प्रकार हैं? टिप्पणी करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 14.3.3)

3. प्रभाव एवं सत्ता के अर्थ स्पष्ट करें।

(उत्तर - देखें 14.3.4 तथा 14.3.5)

### 14.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'शक्ति' की परिभाषा दें। शक्ति के विभिन्न रूपों की चर्चा करें।

2. शक्ति, प्रभाव एवं सत्ता से सम्बन्धों की जाँच करें।

3. एक राजनीतिक अवधारणा के रूप में 'शक्ति' की समीक्षा करें।

## 14.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| (1) | राजनीति दर्शन की समस्याएँ | – | D.D. Raphael |
| (2) | राजनीति सिद्धांत | – | M.P. Jain |
| (3) | समकालीन राजनीति सिद्धांत | – | J. C. Johari |


❖❖❖❖

# राजनीतिक बाध्यता

पाठ संरचना

15.1 उद्देश्य
15.2 विषय - प्रवेश
15.3 मुख्य विषय - राजनीतिक बाध्यता का आधार
15.3.1 उपविषय - राजनीतिक बाध्यता का अर्थ एवं परिभाषा
15.3.2 उपविषय - राजनीतिक बाध्यता के प्रमुख लक्षण
15.3.3 उपविषय - राजनीतिक बाध्यता के सिद्धांत
15.3.4 उपविषय - राजनीतिक बाध्यता की सीमा
15.3.5 उपविषय - मूल्यांकन
15.3.6 उपविषय - निष्कर्ष
15.4 सारांश
15.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द
15.6 अभ्यास के लिए प्रश्न
15.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
15.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
15.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
15.7 प्रस्तावित पाठ

## 15.1 उद्देश्य

राजनीतिक बाध्यता का अर्थ है 'प्राधिकारी के आदेशो का पालन करना। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक बाध्यता का अर्थ है कि यदि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है तो उसे राज्य की संप्रभुता को स्वीकार करना होगा तथा राज्य के आदेशों का पालन करना होगा। परन्तु, प्रश्न यह उठता है - राज्य के नियमों का क्यों पालन करना चाहिए? राज्य के नियमों का पालन करना क्यों हमारा दायित्व है? इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढ़ निकालने के उद्देश्य से ही हमने इस पाठ की संरचना की है। 'राजनीतिक दायित्व' का परिचय देने के पश्चात् हम राजनीतिक दायित्व के महत्त्वपूर्ण आधारों की चर्चा करेंगे। इसके बाद हम राजनीतिक बाध्यता के अर्थ एवं स्वरूप की चर्चा करेंगे। फिर हम राजनीतिक बाध्यता की सीमा की चर्चा करेंगे तथा उसका मूल्यांकन करेंगे। अंत में हम इस विषय पर टिप्पणी करेंगे।

## 15.2 विषय प्रवेश

राज्य की संप्रभुता इस ओर संकेत करती है कि राज्य को जहाँ आदेश देने का या नियम बनाने का अधिकार, है वहीं उन आदेशों या नियमों को पालन कराने का भी अधिकार है। यदि राज्य को अपने नियमों के पालन कराने का अधिकार है तो नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उनका पालन करें।

राजनीति की दुनिया में बाध्यता एक नागरिक के रूप में मनुष्य तथा एक संप्रभुसत्ता के रूप में राज्य के बीच एक बंधन स्थापित करती है। दूसरें शब्दों में, राजनीति के क्षेत्र में बाध्यता का अर्थ है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, एक नागरिक है तथा उस सत्ता के आदेशों का पालन करने की उसकी बाध्यता है। अत जब सर्वोच्च सत्ता के रूप में राज्य आदेश देता है, तो उसके नागरिकों की यह बाध्यता है कि वे उन आदेशों का पालन करें, और इसीको बाध्यता कहते हैं।

इस प्रकार राज्य को नियम बनाने का प्राधिकार है। अधिकार और कर्त्तव्य साथ-साथ होते हैं। इसलिए यदि राज्य को अपने नियमों का पालन कराने का अधिकार है तो नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे उनका पालन करें। नागरिकों का यह दायित्व है कि राज्य जो नियम बनाए उसे नागरिकों को पालन करना चाहिए।

इसे ही 'राजनीतिक दायित्व' की संज्ञा दी गयी है। अब हम इसके मुख्य आधारों की चर्चा करेंगे।

## 15.3 मुख्य बिषय : राजनीतिक बाध्यता का आधार

राजनीतिक बाध्यता इस प्रश्न का उत्तर है कि, ''क्यों एक नागरिक को राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है?'' इस प्रश्न का उत्तर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से दिया है। आदर्शवादी (Idealists) कहते हैं कि मनुष्य नियमों या कानूनों का पालन इसलिए करता है क्योंकि यह उसके अंतर्निहित शुभ स्वरूप में निहित है। व्यवहारवादी (Pragmatist) का कहना है कि इस प्रश्न का उत्तर हमें अनुभव जगत में मिलेगा। हम सत्ताधारी लोगों के कर्मो के मूल्य एवं औचित्य को आँकते हैं। हालाँकि यह प्रश्न उदारवादी राजनीतिक सिद्धांत के क्षेत्र से संबंधित है। यद्यपि इस प्रश्न का सरल उत्तर यह है कि एक नागरिक को राज्य की प्रभुसत्ता प्राप्त है। किन्तु, कई प्रमुख राजनीतिक विचारकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं राज्य की सत्ता का समन्वय करने में कठिनाई हुई है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि राज्य के नियमों का क्यों पालन करना चाहिए? क्यों यह हमारा कर्त्तव्य है? राज्य के नियमों का पालन करना हमारा दायित्व क्यों है? इसके संबंध में कई विचार हैं –

(i) सबसे सरल उत्तर तो यह है कि राज्य के नियमों के पालन का दायित्व इसलिए हो जाता है कि राज्य एक संप्रभुत्व सत्ता है। अतः यदि राज्य प्रभुत्व सम्पन्न है तो नियम बनाना इसका अधिकार है और नियमों का पालन नागरिकों का कर्त्तव्य या दायित्व हो जाता है। परन्तु यह उत्तर संतोषजनक नहीं है। प्रश्न फिर यह उठता है कि राज्य की प्रभुता को स्वीकारने का दायित्व क्यों है?

(ii) इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि हमें राज्य के निमयों के पालन का दायित्व इसलिए है, क्योंकि जिसके हाथ में प्राधिकार है, उसके बल प्रयोग का डर होता है या सामान्य सहमति के कारण या आनुवंशिक अनुक्रम के नियम के कारण या प्राधिकारी के व्यक्तिगत गुण के कारण। इन युक्तियों को दो वर्गो में रखा जा सकता है।

(क) राज्य के निमयों के पालन का दायित्व इस युक्ति पर मानना कि यदि उन नियमों का पालन नहीं किया गया तो दंड मिलेगा, दायित्व को डर पर आधारित करना है। इस दायित्व को दूर-दर्शिता कहा जा सकता है। इस दायित्व का अर्थ है कि अपने हित में राज्य के नियमों का पालन करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है। इसे अंग्रेजी में ''Prudential Obligation'' कहते हैं।

(2) दायित्व को इस विचार पर आधारित करना कि ऐसा ही करना उचित है, ''नैतिक दायित्व'' को स्वीकारना है। इसे ''Moral Obligation'' कहते हैं।

इसलिए दायित्व सम्बन्धी प्रश्न यह होगा कि क्या राज्य के नियमों का पालन करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है?

आजकल, इन दोनों प्रश्नों को विरोधी नहीं विचारा जाता है। 'व्यक्तिगत हित' और 'नैतिक कर्त्तव्य' में कोई विरोध नहीं है। यह तथ्य और भी स्पष्ट तब हो जाएगा जब हम राजनीतिक दायित्व के आधार पर विचार करेंगे।

### 15.3.1 उपविषय : राजनीतिक दायित्व का अर्थ एवं स्वरूप

'बाध्यता' को अंग्रेजी में ''Obligation'' कहते हैं जो लैटिन शब्द ''Obligate'' से निकला है जिसका अर्थ है–

''Something that binds men to an engagement of performing what is enjoined'' अर्थात् वह जो मनुष्य को कुछ करने के लिए बाध्य करता है।

इस परिभाषा के अनेक स्वभावबोधक हैं– उदाहरणस्वरूप नीतिशास्त्र में बाध्यता का अर्थ है कि मनुष्य को उन कर्त्तव्यों का पालन करना है जो उसे दिए गए हैं तथा जिसे उसने अपनी बुद्धि से ग्रहण किया है। कानून के क्षेत्र में बाध्यता का अर्थ है उन कानूनों का पालन करना, जिनसे वह जुड़ा हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में इसका अर्थ है कि मनुष्य एक राजनीतिक प्राणी है, एक नागरिक है, अतः वह किसी सत्ता के अधीन रहने के लिए बाध्य है तथा उस सत्ता के रूप में राज्य आदेश देता है, जो उसके नागरिकों की यह बाध्यता है कि वे उन आदेशों का पालन करें। Benn और Peters के शब्दों में, ''When the authorising rule is a law, and the association a state, we call this Political Obligation.''

इस प्रकार, राजनीतिक बाध्यता का मनुष्य की जीवन पद्धति से गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य एक सुव्यवस्थित समाज का अंग है। जहाँ व्यवस्था का अभाव हो मनुष्य का जीना मुश्किल हो जाता है। व्यवस्था का अर्थ है आज्ञा का पालन अर्थात् आदेश देने का तब तक कोई अर्थ नहीं होता है जब तक उसका पालन न किया जाए। जैसे क्रिकेट का खेल लोगों के लिए खेलना तभी संभव होगा जब वे Umpire अथवा निर्णायक के आदेशों का पालन करेंगे। इसी प्रकार जबतक मनुष्य अधिकारियों के आदेशों का पालन नहीं करेंगे, समाज में शांति और व्यवस्था कायम नहीं हो सकती है।

इस प्रकार, राजनीतिक बाध्यता के कुछ प्रमुख लक्षण इस तरह हैं।

### 15.3.2 उपविषय : राजनीतिक बाध्यता के प्रमुख लक्षण

(i) राजनीतिक बाध्यता का संबंध सरकारी अफसरों से हैं कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन ईमानदारी एवं दृढ़तापूर्वक करें तथा समाजिक हित में कार्य करें।

(ii) राजनीतिक बाध्यता में यह विश्वास भी निहित है कि जो राजनीतिक व्यवस्था हो, वह समाज के लिए सबसे उपयुक्त है।

(iii) राजनीतिक बाध्यता में केवल यही विचार निहित नहीं है कि लोगों को सत्ताधारी वर्गके लोगों के आदेशों का पालन करना है। इसमें यह भी धारणा निहित है कि लोग सत्ता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखें। उन्हें अपने शासकों के कर्मों का समालोचनात्मक परीक्षण करना है तथा जैसा कि लॉक, लास्की, आदि ने कहा है उन्हें अपने विरोध को प्रदर्शित भी करना चाहिए। यहाँ तक कि अगर वे राजनीतिक व्यवस्था से नाखुश हैं तो उसमें परिवर्तन भी ला सकते हैं।

इस प्रकार हम Benn और Peters के शब्दों में कह सकते हैं, ''There are good grounds for accepting authority in general, but there may be good grounds too for rejecting it in particular cases, if authority derives from a constituttion, there would generally be good ground for resecting any exercise of it

which was unconstitutional. Again, if its legitimacy depends on the way it is used, an invasion of a sphere where political authority is inappropriate might be grounds for disobedience, or in extreme cases for resistance.''

### 15.3.3 उपविषय : राजनीतिक बाध्यता सम्बन्धी सिद्धांत

राजनीतिक बाध्यता के विषय पर अनेक सिद्धांत दिए गए हैं जिनमें सबसे प्राचीन है–

**(i) दैविक सिद्धांत (The Divine Theory)**– राजनीतिक बाध्यता का दैविक सिद्धांत सबसे प्राचीन है। इस सिद्धांत केअनुसार मैं सरकार की सत्ता का पालन करने के इसलिए बाध्य हूँ, क्योंकि मैं ईश्वर के आदेशों के पालन के लिए बाध्य हूँ और कोई भी सरकारी सत्ता ईश्वरीय सत्ता का ही प्रतिनिधित्व करती है। ऐसा सिद्धांत बाईबल (Bible) की शिक्षाओं पर आधारित है। संत पालॅ ने भी कहा है कि राजकुमार को सत्ता ईश्वर से मिलती है। (The authority of the prince comes from God)। इस प्रकार, दैविक सिद्धांत के अनुसार राजा को दैविक शक्ति मिली है तथा उसे ईश्वर ने धरती पर राज करने के लिए चुना है। अतः लोगों को उसके आदेशों का पालन करना है।

राजा के दैविक अधिकार की धारणा मध्यकालीन युग में बहुत प्रचलित थी। किन्तु, नई शिक्षा के आगमन के साथ राजाओं का दैविक अधिकार धीरे-धीरे खत्म होने लगा और लोग राजा की सत्ता का बहिष्कार करने लगे।

चूँकि राजनीतिक बाध्यता का दैविक सिद्धांत केवल विश्वास पर आधारित है। अतः आधुनिक युग में इसकी महत्ता कम होती गयी और हॉब्स, लॉक, आदि ने अलौकिकता पर आधारित होने के कारण इसकी कटु आलोचना भी की तथा राजनीतिक बाध्यता को व्यक्तियों की सहमति पर आधारित किया।

**(ii) सहमति सिद्धांत (Consent Theory)**– दैविक सिद्धांत की जगह पर सहमति या हस्ताक्षर सिद्धांत (Consent Theory) का आगमन हुआ। इस सिद्धांत के अनुसार नागरिक सत्ता के साथ इसलिए जुड़े हुए हैं क्योंकि सर्वप्रथम वह अन्य लोगों के समान है और उसने अन्य लोगों के साथ मिलकर यह समझौता किया है (Contract) कि कुछ लोगों को सत्ता दी जाएगी और बदले में वे उन्हें सुरक्षा प्रदान करेंगे। साथ ही कानून की भी व्यवस्था करेंगे। दूसरी बात यह है कि लोग अपने सहयोगियों के साथ प्राकृतिक नियम से बंधे हुए हैं तथा उन्हें अपने समझौते के नियमों का पालन करना है। यह सिद्धांत इंगलैण्ड के हॉब्स और लॉक तथा फ्रांस के रूसो के ''समाजिक समझौता सिद्धांत'' (Social Contract Theory) पर आधारित है।

D.D. Raphael के शब्दों में, ''The Theory of social contract tries to justify political obligation as being based on an implicit promise, like the obligation to obey the rule of a voluntary association.''

इस प्रकार सामाजिक समझौता सिद्धांत इस बात की पुष्टि करता है कि सत्ताधारी वर्ग शासित वर्ग के हस्ताक्षर पर आधारित है। यदि सरकार समझौते के निमयों का पालन नहीं करती है तो लोगों को उसका विरोध करने का अधिकार है।

यद्यपि इस सिद्धांत का महत्त्व इसलिए है क्योंकि यह लोगों के अधिकारों एवं स्वतंत्रता की रक्षा करता है तथा शासकों की निरंकुशता पर रोक लगाता है; किन्तु इसमें यह अवगुण है कि यह राज्य को एक कृत्रिम संस्था मानती है, सरकारी सत्ता के लोगो की प्राकृतिक स्वतंत्रता पर रोक लगाती है।

**(iii) पारम्परिक अधिकारों का सिद्धांत (Prescriptive Theory)**– इस सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक सत्ता तथा इसका पालन पारम्परिक अधिकारों (Customary Rights) पर आधारित है। परिवार तथा राज्य का उदाहरण देते हुए Jean Bedin कहते हैं कि जिस प्रकार एक परिवार का अध्यक्ष पिता होता है उसी प्रकार यह एक ऐतिहासिक सिद्धांत है कि राज्य का मुखिया ''राजा'' होता है। यह बात भी कई वर्षो की परम्परा पर आधारित है। इसलिए लोग अपने शासकों के आदेशों का पालन इसलिए करते हैं क्योंकि यह प्राचीन परम्परा पर आधारित है और इस पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है।

इस सिद्धांत को राजनीतिक बाध्यता का Conservative Theory भी कहा जाता है और इसके समर्थक हैं–हेगेल, एडमंड वर्क, प्रो० माइकल, आदि (Hegel, Edmund Burke, Prof. Michael, etc.)

इस सिद्धांत में यह अवगुण है कि परम्पराओं का औचित्य तभी तक है जब तक उनकी उपयोगिता है। जब परम्पराओं की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है तो लोग उसे तोड़ देते हैं।

**(iv) आदर्शवादी सिद्धांत (Idealistic Theory)**– आदर्शवादी राजनीतिक बाध्यता का स्रोत मनुष्य की अन्तर्निहित बौद्धिकता में ढूँढ़ते हैं। प्लेटो तथा अरस्तू के समय से ग्रीन एवं बोसांक्वे (Bosanquet) के समय तक मनुष्य को एक राजनीतिक एवं बौद्धिक प्राणी मानते हैं तथा राज्य को सम्पूर्ण समाज से मिला देते हैं। राज्य सभी व्यक्तियों की सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है तथा उनकी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

इस प्रकार राजनीतिक बाध्यता राज्य के नियमों के पालन में निहित है। इसके अनुसार राज्य कोई अलग संस्था नहीं है वरन् यह लोगों के साथ है, लोगों की ही संस्था है। व्यक्ति और राज्य मिलकर एक आंगिक सम्पूर्ण (Organic-Whole) बनाते हैं। इस प्रकार अपनी इच्छा को मानना तथा राज्य को मानना तथा राज्य के आदेशों का पालन करना एक ही है। रूसो और हेगेल इस विचार के समर्थक हैं।

राजनीतिक बाध्यता का यह आदर्शवादी सिद्धांत बहुत ही अमूर्त (Abstract) है तथा अंधविश्वास को प्रश्रय देता है। यह साधारण बातों को भी एक उच्च दार्शनिक रूप देता है, जो साधारण मनुष्य की समझ के बाहर है।

राजनीतिक बाध्यता का सिद्धांत जहाँ एक ओर मनुष्य को राज्य के आदेशों को मानने की बात कहता है वहीं दूसरी ओर यह भी शिक्षा देता है कि यदि ये नियम शोषण पर आधारित हैं तो इनका विरोध होना चाहिए। मगर आदर्शवादी दार्शनिक मनुष्य में विरोध के अधिकार को स्वीकार नहीं करते हैं।

इस प्रकार, यह सिद्धांत राज्य की पूजा तथा राज्य में अन्धविश्वास को प्रश्रय देता है।

**(v) मार्क्सवादी सिद्धांत (Marxian Theory)**– मार्क्सवादी सिद्धांत क्रांति के पूर्व की स्थिति (Pre-Revolutionary Stage) में राजनीतिक अबाध्यता (Political Non-obligation)के सिद्धांत का समर्थन करता है।

क्रांति की स्थिति (Revolutionary Stage) में सम्पूर्ण बाध्यता (Total Obligation) की बात करता है तथा क्रांति के बाद (Post-Revolutionary Stage) में सामाजिक बाध्यता की बात करता है। मार्क्स के अनुसार राजनीतिक बाध्यता का प्रश्न क्रांति के बाद ही उठता है। जब 'नए राज्य' की स्थापना होगी तभी राजनीतिक बाध्यता का प्रश्न उठेगा। नया राज्य चूँकि सम्पूर्ण समाज का सारे लोगों का राज्य होगा, अत: अवज्ञा का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

किन्तु,मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इससे तो राजनीतिक बाध्यता का यथार्थ स्वरूप ही बादल जाता है। इसके अनुसार शुरू में राज्य की अवज्ञा करनी है तथा बाद में नए राज्य की स्थापना के पश्चात् राज्य की आज्ञा एवं आदेशों का पालन करना है। किन्तु ऐसा कभी भी सोचना ठीक नहीं होगा कि समाज के सारे लोग एक समान व्यवहार करें जैसा कि मार्क्स का कहना है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि राजनीतिक बाध्यता के सभी सिद्धांतों में सबसे उचित कौन सा है। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि यद्यपि सभी सिद्धांतों में गुण-दोष दोनों ही हैं किन्तु, हमें इसका व्यवहारवादी सिद्धांत ही उचित लगता है, जहाँ सत्य के परीक्षण के बाद उसे मानना है।

### 15.3.4 उपविषय : राजनैतिक बाध्यता की सीमा

राजनैतिक बाध्यता की धारणा की चर्चा करने के साथ ही साथ हमें इसकी सीमाओं को भी जान लेना आवश्यक है। मनुष्य न केवल राज्य के आदेशों को मानने के लिए ही बाध्य है वरन् कुछ स्थितियों में वह राज्य के आदेशों का उल्लंघन करने के लिए भी बाध्य हैं।

सत्ता के आदेशों के उल्लंघन को लेकर सभी सिद्धांतों के अलग-अलग विचार हैं। ''दैविक'' और ''पारम्परिक

अधिकारों के सिद्धांत'' के अनुसार किसी भी परिस्थिति में राज्य की अवज्ञा का अधिकार मनुष्य को नहीं है।

'सहमति' और 'व्यवहारवादी' सिद्धातों के समर्थकों के अनुसार कुछ परिस्थितियों में राजनीतिक अवज्ञा का अधिकार है। मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार जहाँ बुर्जुआ राज्य के आदेशों की अवहेलना उचित है वहीं समाजवादी राज्य के आदेशों का पूर्णरूप से पालन करना है।

प्रमुख अंग्रेजी उदारवादी विचारकों का कहना है कि निम्नलिखित परिस्थितियों में लोगों को राजनीतिक अवज्ञा का अधिकार है–

(1) इनके अनुसार लोगों को राजनीतिक आदेशों का उल्लंघन करने का अधिकार तब है जबकि उनमें से अधिकांश ये अनुभव करते हैं कि सत्ताधारी लोगों के कर्म समुदाय के लोगों की सामान्य इच्छाओं के विरूद्ध है।

(2) राजनीतिक अवज्ञा की स्थिति सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यह लोगों के ऊपर निर्भर करता है कि वे इस बात का निर्धारण करें कि कब ऐसी स्थितियाँ हैं जब आदेशों की अवहेलना करनी है।

(3) राजनीतिक आदेशों के उल्लंघन का अधिकार होने का केवल यही अर्थ होना चाहिए कि यदि ये आदेश लोगों के हित में नहीं हैं तो उनकी अवहेलना की जाए। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्थिति इतनी खराब कर दी जाए कि समाज की व्यवस्था भंग हो जाए।

इस प्रकार, राजनीतिक बाध्यता की ऊपर वर्णित सीमाएँ हैं।

### 15.3.5 उपविषय : मूल्यांकन

राजनीतिक बाध्यता की जो चर्चा हमने की है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह बहुत ही नाजुक मामला (Delicate Affair) है। सभी सिद्धांतों (दैविक, पारम्परिक अधिकारों का, सहमति, आदर्शवादी, मार्क्सवादी) के समर्थक राजनीतिक बाध्यता एवं उसकी सीमा को लेकर अलग-अलग विचार देते हैं।

राजनीतिक बाध्यता न केवल एक नाजजुक मामला है, बल्कि इसका ठोस स्वरूप बता पाना भी कठिन है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह न केवल एक राजनीतिक वरन् एक नैतिक मामला है। नैतिकता के मापदंड समय के साथ-साथ लोगों के साथ तथा स्थान के साथ बदलता रहता है। साथ ही साथ राजनीतिक बाध्यता की सीमाएँ, राजनीतिक अवज्ञा के रूप भी लोगों तथा स्थान के साथ बदलते रहते हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि संवैधानिक संस्कार में ही राजनीतिक बाध्यता की धारणा सुरक्षित रह सकती है। ऐसी स्थिति में हमें राज्य की आज्ञा या आदेशों का पालन इसलिए करना है क्योंकि यह संविधान के अनुकूल है। यदि सरकार संविधान के नियमों का उल्लंघन करती है, तो इसकी आलोचना करनी चाहिए तथा इसे उखाड़ फेंकना चाहिए।

### 15.3.6 उपविषय : निष्कर्ष

अत: हम Margarett Mac Donald के शब्दों में कह सकते हैं, ''Necessary and sufficient grounds for political obligation are not be found.''

यहाँ तक कि सहमति सिद्धांत जिसे सबसे उचित सिद्धांत माना गया है उसमें भी कई कमियाँ हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक बाध्यता का प्रमुख आधार और कुछ नहीं, बल्कि ''राज्य के नैतिक लक्ष्य'' हैं। हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम राज्य के आदेशों को मानें, क्योंकि ये आदेश सामाजिक शुभ और न्याय के लिए बनाए जाते हैं।

इस प्रकार, सामाजिक शुभ और न्याय का सिद्धांत, सहमति के सिद्धांत के साथ जुड़कर राजनीतिक बाध्यता का उचित आधार बन सकते हैं।

## 15.4 सारांश

जैसा कि हमने देखा, राजनीतिक बाध्यता इस प्रश्न का उत्तर है कि "क्यों एक नागरिक को राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है?" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि एक नागरिक को राज्य के नियमों का पालन इसलिए करना है क्योंकि राज्य को प्रभुसत्ता प्राप्त है। किन्तु, कई प्रमुख राजनीतिक विचारकों को जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं राज्य की सत्ता के समंन्वय में कठिनाई हुई, तब उन्होंने राजनीतिक बाध्यता को लेकर अपने-अपने विचार दिए कि क्यों हमें राज्य के आदेशों को मानना आवश्यक है।

जहाँ एक ओर विद्वानों ने राज्य के आदेशों को मानने की बात कही, वहीं उन्होंने समय आने पर अथवा आवश्यकता पड़ने पर राज्य के आदेशों के उल्लंघन की भी बात कही है।

अंत में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीतिक बाध्यता का अर्थ है कि एक विवेकशील एवं जिम्मेदार नागरिक की तरह हमें राज्य के आदेशों का पालन करना है तथा अपनी स्वतंत्रता के प्रति पूर्ण रूप से चौकस रहना है।

हमें यह हमेशा याद रखना है, "Enternal vigilance is the price of liberty."

## 15.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

राजनीतिक बाध्यता, नागरिक, आदर्शवादी, व्यवहारवादी, उदारवादी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सत्ता, सर्वोच्च सत्ता, दैविक सिद्धांत, सहमति सिद्धांत, समझौता, कृत्रिम संस्था, पारम्परिक अधिकार, बौद्धिकता, क्रांति, मार्क्सवादी, नाजुक, संविधान, राजनीतिक अवज्ञा, सरकार, उल्लंघन, आंगिक सम्पूर्ण, अधिकार, बहिष्कार, प्रतिनिधित्व।

## 15.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 15.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. राजनीतिक बाध्यता का अर्थ है-

(क) राज्य के आदेशों का मानने की बाध्यता

(ख) समाज के आदेशों को मानने की बाध्यता

(ग) लोगों के आदेशों को मानने की बाध्यता

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

2. लोगों को अधिकार हैं-

(क) राज्य के आदेशों को न मानने का

(ख) आवश्यकता पड़ने पर राज्य के आदेशों की अवहेलना करना

(ग) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 15.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक बाध्यता का क्या अर्थ है? टिप्पणी करें।

   (उत्तर - उपविषय 15.3.1)

2. राजनीतिक बाध्यता की सीमाओं की चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 15.3.3)

3. राजनीतिक बाध्यता का आधार क्या है? वर्णन करें।

   (उत्तर 15.3)

### 15.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक बाध्यता की अवधारणा की समीक्षा करें।
2. राजनीतिक बाध्यता के प्रमुख सिद्धांतों की चर्चा करें।

## 15.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | Contemporary Political Theory | – | J.C. Johari |
| 2. | Prohlems of Political Philosophy | – | D.D. Raphael |
| 3. | प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | अशोक कुमार वर्मा |


❖❖❖❖

# राजनीतिक आदर्श - लोकतंत्र

पाठ संरचना

16.1 उद्देश्य
16.2 विषय - प्रवेश
16.3 मुख्य विषय - आदर्श सरकार के रूप में लोकतंत्र
16.3.1 उपविषय - लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा
16.3.2 उपविषय - लोतंत्रत के मूल सिद्धांत
16.3.3 उपविषय - लोकतंत्र के प्रकार
16.3.4 उपविषय - लोकतंत्र के सिद्धांत
16.3.5 उपविषय - लोकतंत्र के गुण
16.3.6 उपविषय - लोकतंत्र के दोष
16.3.7 उपविषय - लोकतंत्र की सफलता की शर्तें
16.3.8 उपविषय - निष्कर्ष
16.4 सारांश
16.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द
16.6 अभ्यास के लिए प्रश्न
16.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
16.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
16.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
16.7 प्रस्तावित पाठ

## 16.1 उद्देश्य

एक राजनीतिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र आदर्श सरकार के स्वरूप की स्थापना करता है। ''स्वतंत्रता'' और ''समानता'' लोकतांत्रिक आदर्श के मूल-मंत्र हैं जिसके कारण लोकतंत्र अन्य सभी राजनीतिक आदर्शों से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में, लोकतंत्र का प्रमुख लक्ष्य है कि नागरिकों के लिए अधिक से अधिक स्वतंत्रता उपलब्ध करायी जाए। स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता का भी योग है। अतः लोकतंत्र अपने नागरिकों को स्वतंत्रता और समानता की प्राप्ति करना चाहता है।

अतः इस पाठ की संरचना के पीछे जो हगारा प्रमुख लक्ष्य है वह यह है कि हम इन सबसे लोकप्रिय शासन प्रणाली के अर्थ एवं परिभाषा की चर्च्या करें। इसके बाद हम लोकतंत्र के मूल-सिद्धांतों की भी चर्चा करेंगे। लोकतंत्र के विभिन्न प्रकारों, विभिन्न सिद्धांतों की भी चर्चा करेंगे। लोकतंत्र के गुण एवं दोष की समीक्षा भी हम करेंगे। लोकतंत्र की सफलता के विभिन्न शर्तो की भी चर्चा होगी।

अंत में, एक राजनीतिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र की समीक्षा करते हुए हम निष्कर्ष पर पहुँचेंगे।

## 16.2 विषय प्रवेश

आरंभ में ही हमने देखा था कि राजनीति दर्शन आदर्शमूलक होता है, जो राज्य और सरकार के आदर्शो की स्थापना करता है। एक राजनीतिक आदर्श के रूप में लोगतंत्र आदर्श सरकार के मापदंड की स्थापना करता है।

लोकतंत्र सबसे लोकप्रिय सरकार का रूप माना गया है अर्थात् सरकार के विभिन्न रूपों में लोकतंत्र को सबसे अधिक लोकप्रियता मिली है। आधुनिक युग में करीब-करीब हर सरकार अपने को लोकतंत्रीय प्रणाली पर कार्य करती हुई मानती है।

लोकतंत्र एक ऐसा सिद्धान्त है जो 'स्वयं करने' की शिक्षा देता है। ''स्वयं करने'' का यहाँ यह भी अर्थ निकलता है कि ''स्वयं शासन करें।'' दूसरे शब्दों में, लोकतन्त्र ऐसी सरकार को कहा जाता है जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप में या अप्रत्यक्ष रूप में अपने प्रतिनिधियों के द्वारा शासन में भाग लेती है। इस व्यवस्था के मूल में जो विचार है वह यह कि स्वयं अपनी दिशा-निर्देश करना, अपने लिए चुनाव या निर्णय लेना, यह कहीं अधिक अच्छा है, न कि अन्य की प्रभुसत्ता के अधीन रहना। इसी को स्वतंत्रता या Liberty कहते हैं। लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली में स्वतंत्रता और समानता का अत्यधिक महत्त्व है।

स्वतन्त्रता और समानता लोकतंत्र के मूल-मंत्र हैं। अब हम लोकतंत्र के मुख्य विषय की चर्चा करेंगे।

## 16.3 मुख्य विषय : एक आदर्श सरकार के रूप में लोकतंत्र

लोकतंत्र का प्रमुख लक्ष्य है अपने नागरिकों के लिए अधिक से अधिक स्वतंत्रता तथा समानता की प्राप्ति कराना। सरकार के अन्य रूप जैसे राजतंत्र, धर्मतंत्र आदि में नागरिकों की स्वतंत्रता सीमित रहती है। मगर प्रजातंत्र लोगों को इतनी स्वतंत्रता देता है कि वे स्वयं राज्य करें, अपने द्वारा बनाये गये कानून को मानें। चूँकि जनता अपने या अपनी प्रतिनिधियों द्वारा राज्य करती है अतः जनता में ही राज्य की सत्ता निवास करती है। इस प्रकार, जनता को पूर्ण स्वतंत्रता है। यहीं कारण है कि लोकतंत्र या प्रजातंत्र को ''जनता की, जनता के लिए तथा जनता के द्वारा एक सरकार माना गया है।''

चूँकि लोकतन्त्र में शासन का आधार जनता होती है, सत्ता भी जनता में ही निहित रहती है और इस शासन-प्रणाली का उद्देश्य भी जनता का ही हित है, अतः लोकतंत्र को सभी शासन-प्रणालियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यहाँ सभी व्यक्तियों को समान अधिकार मिलें हैं जिससे ऊँच-नीच, छुआछूत का भेद-भाव नष्ट हो जाता है। लोकतंत्र में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समानता पर भी जोर दिया गया है। लोकतंत्र में जितनी स्वतंत्रता जनता को प्राप्त है उतनी स्वतंत्रता किसी और प्रकार की सरकार को प्राप्त नहीं होती।

इन सभी कारणों से लोकतंत्र को एक आदर्श सरकार के रूप में लिया जाता है।

### 16.3.1 उपविषय : लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा

लोकतंत्र को अंग्रेजी में ''Democracy'' कहते हैं जो ग्रीक भाषा के दो शब्द 'डैमोस' (Demos) और 'क्रेटोस' (Kratos) से मिलकर बना है। 'डैमोस' का अर्थ है 'लोक' और 'क्रेटोस' का अर्थ है 'शक्ति' या सत्ता। इस प्रकार डिमोक्रेसी शब्द का अर्थ है– लोगों का शासन। इस प्रकार लोकतंत्र ऐसी सरकार को कहा जाता है जिसमें

जनता को राजसत्ता का अन्तिम स्रोत समझा जाता है और जनता स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपने प्रतिनिधियों के द्वारा शासन में भाग लेती है। लोकतंत्र को आरंभ में केवल एक राजनीतिक सिद्धांत माना गया था मगर बाद में इसके अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक मूल्यों को भी रखा गया। इससे लोकतंत्र आज एक अत्यन्त ही बृहत सिद्धांत के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। कहा जाता है कि लोकतंत्र केवल सरकार का रूप ही नहीं, बल्कि राज्य और समाज का भी एक रूप है। एक लोकतन्त्रीय राज्य को न केवल सर्वोच्च अधिकार होता है, बल्कि उसे सरकार को चुनने, नियंत्रण करने तथा बर्खास्त करने का भी अधिकार होता है। एक लोकतंत्रीय समाज में समानता तथा भाईचारे की भावना व्याप्त रहती है।

लोकतंत्र का अर्थ केवल इतना कहने से ही कि यह सरकार का रूप है, राज्य तथा समाज का स्वरूप है, पूर्ण नहीं हो जाता है। लोकतंत्र को जीवन का एक ढंग माना गया है तथा इसका मुख्य आधार समानता, स्वतंत्रता तथा बंधुता है।

लोकतंत्र की परिभाषा : लोकतंत्र की परिभाषाएँ अनेक विचारकों ने इस प्रकार दी हैं–

1. **अब्राहम लिंकन**– "लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए तथा जनता द्वारा शासन है।"

2. **डायसी**– "लोकतंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र का अधिकांश भाग शासक हो।"

3. **सीले**– "लोकतंत्र उस शासन को कहते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग है।"

4. **ब्राइस**– "लोकतंत्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य के अधिकार किसी विशेष श्रेणी के लोगों को नहीं बल्कि समूचे समाज के लोगों को प्रदान किए जाते हैं।"

5. **गेटेल**– "वह राज्य-शासन जिसमें सर्वोच्च सत्ता में भाग लेने का अधिकार केवल जनता को ही प्राप्त हो, प्रजातंत्र कहलाता है।"

### 16.3.2 उपविषय : लोकतंत्र के मूल सिद्धांत

लोकतंत्र के मूल सिद्धांत तथा आधार हैं–

(1) **स्वतंत्रता (Liberty)**– लोकतंत्र का मुख्य सिद्धांत तथा आधार स्वतंत्रता है। लोकतंत्र में जितनी स्वतंत्रता जनता को प्राप्त है, उतनी स्वतंत्रता किसी और प्रकार की सरकार को प्राप्त नहीं है। लोकतंत्र में आलोचना को न केवल सहन किया जाता है बल्कि इसका स्वागत भी किया जाता है।

(2) **समानता (Equality)**– लोकतंत्र में समानता पर भी विशेष बल दिया गया है। इसमें ऊँच-नीच, छुआ-छूत का भेद-भाव नष्ट हो जाता है। राजनीतिक, आर्थिक तथा समाजिक स्तर पर लोगों में कोई भेद-भाव नहीं होता है। सभी वयस्क को वोट देने का भी अधिकार मिला हुआ है।

(3) **विश्वबन्धुता (Fraternity)**– लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब संसार में शांति बनी रहे, अन्यथा लोकतंत्र को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(4) **जनता को प्रभुसत्ता (Soveriegnity)**– लोकतंत्र में जनता को राजसत्ता का अन्तिम स्रोत माना जाता है और सरकार अपनी सारी शक्तियाँ इससे ग्रहण करती है।

(5) **जनता के मौलिक अधिकार (Fundamental Rights of the People)**– लोकतंत्र में जनता को मौलिक अधिकार दिए जाते हैं क्योंकि इसके बिना व्यक्ति का विकास संभव नहीं है।

(6) **स्वतंत्र न्यायपालिका (Independent Judiciary)**– लोकतंत्र में मौलिक अधिकारों की रक्षा का भार न्यायपालिका को सौंपा जाता है।

(7) **लोकतंत्र में जनता को साध्य समझा जाता है और राज्य को साधन**– राज्य का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के कल्याण के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करे, क्योंकि लोगों का सम्पूर्ण विकास ही इसका लक्ष्य है।

**(8) कल्याणकारी राज्य (Welfare State)**– लोकतंत्र एक कल्याणकारी राज्य है। इसमें किसी विशेष वर्ग नहीं, बल्कि जनता के हित की तरफ विशेष ध्यान दिया जाता है।

**(9) स्वतंत्र एवं चुनाव (Free and Periodic Elections)**– लोकतंत्र में समय-समय पर चुनाव होते हैं, जिसमें लोग अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं जो आगे चलकर शासन में भाग लेते हैं।

**(10) व्यस्क मताधिकार (Adult Franchise)**– लोकतंत्र में प्रत्येक वयस्क को अपना मत देने का अधिकार है। यहाँ जाति, धर्म, लिंग, वर्ग, आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं होता है।

**(11) कम से कम दो राजनीतिक पार्टियाँ हों (At least two Political Parties or Pressure Groups)**– लोकतंत्र की एक यह भी माँग है कि यहाँ कम से कम दो राजनीतिक पार्टियाँ हों, जिनमें एक शासन करे तथा दूसरा उसके विपक्ष में उसकी बुराइयों का पर्दाफाश करे।

इस प्रकार, ऊपर वर्णित सिद्धांत लोकतंत्र के प्रमुख आधार हैं।

लोकतंत्र दो प्रकार के होते हैं–

(i) शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष (Pure or Direct) लोकतंत्र

(ii) अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र (Indirect or Representative Democracy)

**(i) प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध लोकतंत्र**– प्रत्यक्ष लोकतंत्र वह शासन व्यवस्था है जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता के कार्य करती है। प्रत्यक्ष लोकतंत्र में मतदाता स्वयं एक स्थान पर इकट्ठे होते हैं और अपने देश के शासन के लिए कानून बनाते हैं।

प्राचीन काल में थोड़े समय के लिए यह यूनान के नगर राज्यों (City States) में प्रचलित था। अब यह स्विट्जरलैंड के चार कैण्टनों (Canton) में प्रचलित है।

प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध लोकतंत्र अत्यंत ही अव्यावहारिक सिद्धांत है। यह बहुत ही छोटे राज्य में सम्भव हो सकता है।

आज के युग में प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध लोकतंत्र असंभव विचार है। आज के लिए केवल अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र ही संभव है।

**(ii) अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र (Indirect or Representative Democracy)**– अधिकतर लोकतंत्रीय देशों में लोकतंत्र का अर्थ अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र है। यदि लोग अपनी इच्छा को प्रत्यक्ष रूप में प्रकट न करके; अपनी इच्छा को अपने प्रतिनिधयों के द्वारा प्रकट करते हैं और उनके प्रतिनिधि उनकी तरफ से कानून बनाते हैं।

इन प्रतिनिधियों का समय-समय पर चुनाव होता है और उन्हें ही राज्य को चलाने का भार सौंपा जाता है।

प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र दो प्रकार के होते हैं–

अध्यक्षात्मक तथा संसदीय (Presidential and Parliamentary)

आजकल संसार के बहुत से देशों में अप्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित है– इंगलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान, लंका, भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, जर्मनी, इटली, डेनमार्क, स्वीडन, नार्वे, आस्ट्रिया, बेल्जियम, आदि।

### 16.3.4 उपविषय : लोकतंत्र के सिद्धांत

मुख्य रूप से लोकतंत्र के दो सिद्धांत हैं–

(I) उदारवादी (Liberal)

(II) मार्क्सवादी (Marxist)

**(i) Classical Liberal Theory–** इस सिद्धांत के अनुसार लोकतंत्र मात्र राजनीतिक व्यवस्था नहीं है, वरन् यह पूर्ण समुदाय के सर्वांगीण विकास का आवश्यक कारण है। लोकतंत्र हमें यह गारंटी देता है कि समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा को मान्यता मिलेगी तथा सरकार किसी की भी अवहेलना नहीं करेगी।

**(ii) The Elitist Theory of Democracy–** लोकतंत्र के इस सिद्धांत की चर्चा Mosco ने अपनी प्रसिद्ध रचना, ''The Ruling Class'' में किया था। Parento ने भी इस सिद्धांत की चर्चा अपनी प्रसिद्ध रचना, ''Mind and Society'' में की है। फिर, Roberto Michels ने भी राजनीतिक दलों के इस सिद्धान्त की चर्चा अपनी पुस्तक, ''Political Parties'' में की है। इन सबों के अनुसार समाज का वर्गीकरण दो भागों में किया गया है, एक अल्पसंख्यक वर्ग जो शासन करता है तथा दूसरा बहुसंख्यक वर्ग जो शासित होता है। अतः इस सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक सत्ता, अल्पसंख्यक (Ruling elite) शासन वर्ग के हाथ में है, न कि बहुसंख्यक के हाथ में। अल्पसंख्यक वे सारे सुखों को भोगते हैं जो शासकवर्ग को प्राप्त हैं।

**(iii) Pluralist Theory of Democracy–** Lipset ने इस सिद्धांत की चर्चा अपनी पुस्तक, ''Political Man'' में की है। Dah Rendarf ने उनके इस विचार का समर्थन किया है अपनी पुस्तक, ''Classes In Industrial Society'' में Robert Dahl ने भी इस सिद्धांत की व्याख्या, ''A Preface to Democratic Theory and Polyarchy'' में की है।

इन विचारकों के अनुसार, समाज विभिन्न कल्याणकारी वर्गों में बाँटा गया है। चूँकि कोई भी वर्ग यहाँ तक कि elite वर्ग भी इतना शक्तिशाली नहीं है कि सरकार का कार्यभार सम्भाल सके या अपने निर्णयों को दूसरे पर लागू करे सके, अतः सत्ता को अनेक वर्गों में जैसे व्यवसायी, उद्योगपति, राजनीतिज्ञ, उपभोक्ता, किसान संगठन, आदि विकेन्द्रित करना चाहिए।

इस प्रकार, इस सिद्धांत के अनुसार सत्ता अनेक वर्गों में विकेन्द्रित है, न कि केवल कुछ ही लोगों के हाथ में होती है।

**II मार्क्सवादी सिद्धांत–** मार्क्स के अनुसार यथार्थ रूप में लोकतंत्र आर्थिक तथा सामाजिक समानता पर आधारित है जिसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब निजी सम्पत्ति का समाजीकरण हो जाए। सच्चे अर्थों में लोकतंत्र की स्थापना के लिए वर्ग के साथ ही साथ राज्य का भी अंत कर देना चाहिए। फिर मार्क्स का यह भी विचार था कि लोकतंत्र की स्थापना के लिए क्रांति की भी आवश्यकता है।

### 16.3.5 उपविषय : लोकतंत्र के गुण

लोकतंत्र को सरकार का सबसे अच्छा रूप माना गया है और इसके गुण इस प्रकार हैं–

**(i) इसमें साधारण जनता के हितों के प्रति विशेष ध्यान दिया जाता है–** लोकतंत्र की यह गारंटी है कि इसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा का ध्यान रखा जाएगा तथा सरकार की यह कोशिश होगी कि किसी के हित की अवहेलना न हो।

**(ii) यह सरकार समानता पर आधारित है–** लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को समान माना गया है, उसे समान अधिकार दिए गए हैं। जाति, वर्ग, धर्म, लिंग, आदि के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया गया है।

**(iii) यह स्वतंत्रता तथा बन्धुता जैसे उच्च आदर्शों का महान समर्थक है–** लोकतंत्र स्वतंत्रता, समानता तथा बन्धुता जैसे महान आदर्शों का प्रचार करता है, ताकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के सबसे ऊँचे लक्ष्य को प्राप्त करे सकें।

**(iv) यह मनुष्य की गरिमा का समर्थक है–** लोकतंत्र में चूँकि प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतंत्रता और अधिकार मिले हैं, इससे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ प्रत्येक मनुष्य की प्रतिष्ठा का सम्मान किया जाता है।

**(v) यह जनमत पर टिका हुआ है**– लोकतंत्र में जनता अपने मत को चुनाव में प्रदर्शित करती है। उसके प्रतिनिधि सरकार का रूप लेते हैं और वह सरकार देश को चलाती है। इस प्रकार, लोकतंत्र में जनमत का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

**(vi) लोकतंत्र आदर्श नागरिकता के लिए एक प्रशिक्षण केन्द्र के रूप में कार्य करता है**– लोकतंत्र शिक्षाप्रद शासन व्यवस्था है। यह लोगों में उत्सुकता जागृत करती है। यह लोगों में उच्च प्रकार की मानसिकता जागृत करती है। आम चुनाव के समय लोगों को अपने विचारों का व्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है। लोगों को सरकार के विचारों को अच्छी तरह जानने का अवसर मिलाता है। जैसा कि C.D. Burns ने लिखा है, "All government is a method of education but the last education is self education, therefore, the last government is self-government which is democracy"

**(vii) इससे लोगों को राजनीतिक शिक्षा मिलती है**– जैसा कि ऊपर कहा गया है– लोकतंत्र लोगों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करता है।

**(viii) इससे लोगों का नैतिक-स्तर ऊँचा होता है**– लोकतंत्र लोगों को स्वावलम्बी बनने की शिक्षा देता है। यहाँ अपने प्रयत्नों से प्राप्त सुखपर अधिक बल दिया जाता है, अपने दायित्वों को जानने पर जोर दिया जाता है। इस प्रकार, प्रजातंत्र लोगों को अच्छी नैतिक शिक्षा प्रदान करता है।

**(ix) यह देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देता है तथा इससे लोगों की रूचि प्रशासन में बढ़ती है**– मिल के शब्दों में, "It promotes a better and higher form of national character than anyother polity whatsoever" लोकतंत्र में देश-भक्ति तथा राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रश्रय मिलता है।

**(x) लोकतंत्र में क्रान्तियों का भय कम होता है**– लोकतंत्र में चूँकि सत्ता लोगों के हाथ में होती है तथा यहाँ शक्ति या force का प्रयोग नहीं होता है, अतः यहाँ क्रान्तियों का भय कम होता है।

**(xi) सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक सुधार के लिए लोकतंत्र सबसे अधिक उपयुक्त है**– चूँकि लोकतंत्र लोगों को समान अधिकार देता है, जाति, वर्ग, धर्म आदि के नाम पर कोई भेद-भाव नहीं करता है, अतः प्रत्येक दृष्टि से चाहे वह सामाजिक हो, या आर्थिक या राजनीतिक, यह अत्यंत ही उपयुक्त सिद्धांत है।

इस प्रकार, लोकतंत्र में अनेक गुण हैं।

### 16.3.6 उपविषय : लोकतंत्र के अवगुण

**(i) लोकतंत्र अयोग्य व्यक्तियों का शासन है**– लोकतंत्र में लोगों के चुने हुए प्रतिनिधि सरकार चलाते हैं। ये प्रतिनिधि चाहे सरकार चलाने में सक्षम हों या न हों, इन्हें सरकार में शामिल होना ही है, चूँकि ये चुनाव जीत कर आते हैं। अक्सर, काबिल तथा सक्षम लोग चुनाव में जीत ही नहीं पाते हैं।

**(ii) लोकतंत्र में संख्या का अधिक महत्त्व है और गुणों का कम**– लोकतंत्र में वोटों को गिना जाता है, तौला नहीं जाता हैं। इसे 'भीड़ का शासन' कहते हैं। यह बहुसंख्यक को ही सर्वोच्च मानता है, चाहे अल्पसंख्यक अधिक ज्ञानी और समझदार ही क्यों न हों।

**(iii) लोकतंत्र एक अत्यन्त ही खर्चीला शासन है**– इसमें धन का प्रयोग विकास के कार्यों में न होकर चुनाव के प्रचार तथा अपने क्षेत्र का नाम पैदा करने के लिए किया जाता है।

**(iv) लोकतंत्र में पूँजीपतियों का बहुत अधिक प्रभाव रहता है**– पूँजीपति चुनाव में खड़े प्रत्याशियों को पैसों से मदद करते हैं, अतः उनका सरकार में बहुत अधिक प्रभाव होता है।

**(v) राजनीतिक दलों का खराब प्रभाव रहता है तथा रिश्वतखोरी की भरमार होती है**– चूँकि लोकतंत्र में अनेक पार्टियाँ या राजनीतिक दल होते हैं और सारे दल अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्यों की पूर्ति में लगे रहते हैं, अतः देश के माहौल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। रिश्वतखोरी की भी भरमार होती है।

**(vi) लोकतंत्र सभ्यता और संस्कृति में बाधक है**– उपर्युक्त कारणों से देश में भ्रष्टाचार फैल जाता है, जिससे कि देश की सभ्यता और संस्कृति में बाधा पहुँचती है।

**(vii) लोकतंत्र में बहुमत का शासन है जो कभी**– कभी अन्यायी शासन हो जाता है– लोकतंत्र में बहुमत का शासन होता है जो कभी-कभी अल्पसंख्यक की समस्याओं को नजरअंदाज करता है।

**(viii) इसमें सरकार कई बार अस्थिर हो जाती है**– चूँकि यहाँ राजनीतिक दल होते हैं और सभी अपने स्वार्थ की पूर्ति में लगकर, कई बार दल बदलते रहते हैं। इससे बहुमत में कमी होने के कारण सरकार अस्थिर होकर टूट जाती है।

**(ix) लोकतंत्र में लोगों का नैतिक स्तर गिर जाता है**– चूँकि यहाँ राजनीतिज्ञों का मुख्य लक्ष्य वोट की प्राप्ति करना है, चाहे वह जिस तरह से भी संभव हो, अत: इसमें लोगों का नैतिक स्तर गिर जाता है।

**(x) लोकतंत्र केवल कल्पना है और व्यवहार में असंभव है**– लोकतंत्र अर्थात् लोगों का अपना शासन, यह केवल कल्पना ही है। व्यवहार में यह संभव नहीं है और इसमें ऊपर वर्णित कई प्रकार के दोष पाए जाते हैं।

इस प्रकार, हमने देखा कि लोकतंत्र में कई अवगुण हैं, मगर इसका यह अर्थ नहीं है कि यह एक बुरी सरकार है। हमें यह हमेशा स्मरण रहना चाहिए कि सरकार का कोई भी रूप लोकतंत्र के मुकाबले अच्छा नहीं है।

### 16.3.7 उपविषय : लोकतंत्र की सफलता की शर्तें

(i) लोकतंत्र की सफलता के लिए, सबसे पहली शर्त यह है कि लोकतंत्र के मौलिक सिद्धांतों में लोगों का विश्वास हो। इन सिद्धांतो में जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है वह यह कि प्रत्येक को महत्त्व देना चाहिए।

(ii) शिक्षा के अभाव में भी लोकतंत्र की सफलता संभव नहीं है। जब तक सभी लोग शिक्षित नहीं होते हैं तथा अच्छे बुरे की पहचान करने में सक्षम नहीं होते हैं, तब तक लोकतंत्र की सफलता संभव नहीं है।

(iii) कोई भी लोकतंत्र तभी सफलतापूर्वक चल सकता है जब नेता तथा जनता शुद्ध और खुले हृदय से आपस में मिलकर रहें।

(iv) लोकतंत्र की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि न एक तरफ अत्यधिक धन हो और न ही दूसरी ओर अत्यधिक गरीबी हो।

(v) लोकतंत्र की सफलता के लिए जाति और वर्ग में भेद-भाव कम से कम होना चाहिए।

(vi) लोकतंत्र की सफलता के लिए योग्य व्यक्तियों का चुनाव करना भी आवश्यक है।

(vii) प्रेस की स्वतंत्रता तथा सही सूचना की प्राप्ति भी लोकतंत्र के लिए आवश्यक है।

(viii) योग्य जनमत भी लोकतंत्र की सफलता का प्रमुख कारण है।

(ix) लोगों में जागरूकता जहाँ स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है, वहीं लोकतंत्र के लिए भी अतिआवश्यक है।

### 16.3.8 उपविषय : निष्कर्ष

हस प्रकार, हमने लोकतंत्र के गुणों एवं अवगुणों का अवलोकन किया तथा लोकतंत्र की सफलता की शर्तो को भी देखा। नि:संदेह, लोकतंत्र सरकार सबसे आदर्श रूप है। एक राजनीतिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र की जीवन अवधि सबसे अधिक मानी गयी है और यह आज भी जीवित है। लोकतंत्र सबसे लोकप्रिय सरकार का रूप माना गया है, क्योंकि यह स्वतंत्रता और समानता जैसे उच्च आदर्शो पर आधारित है। इसमें जनता को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिलता है। इसका लक्ष्य सार्वजनिक कल्याण है।

लोकतंत्र के जो दोष हैं वे भी काफी हद तक दूर किए जा सकते हैं। उचित शिक्षा, नैतिकता, जागरूकता, सचेन नागरिकता, सहिष्णुता एवं एकता की भावना के द्वारा लोकतंत्र के दोषों को काफी हद तक दूर किया जा सकना है।

## 16.4 सारांश

इस प्रकार, लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए, और जनता के द्वारा सरकार है। प्रजातंत्र या लोकतंत्र अन्य सभी शासन प्रणालियों से श्रेष्ठ है। स्वतंत्रता और समानता पर आधारित प्रजातंत्र लोगों के हित की कामना रखता है। इसके कई गुण हैं। साथ ही साथ इसमें कुछ अवगुण भी हैं। मगर जैसा कि Lawell ने कहा है, ''No form of government is a panacea for all human ills.'' लोकतंत्र के विरूद्ध जो आरोप है, उन्हें काफी हद तक दूर किया जात सकता है। इसकी सफलता के लिए व्यक्तियों का साक्षर होना, उनमें नागरिकता की भावना का होना, उनका चरित्रवान होना तथा उनमें आर्थिक समानता का होना भी आवश्यक है। अपने दोषों के बाबजूद लोकतंत्र एक आदर्श शासन प्रणाली है।

## 16.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

लोकतंत्र, समानता, स्वतंत्रता, बन्धुता, सरकार, प्रतिनिधि, नैतिक मूल्य, प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष, शासन, मोलिक अधिकार, अध्यक्षात्मक, नैतिक स्तर, कल्याण, कार्यकुशल, अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, राजजनीतिक दल, प्रशिक्षण केन्द्र, नागरिकता, आदर्श, जनमत, अन्यायी, जागरूकता, देशभक्ति।

## 16.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 15.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. लोकतंत्र -

(क) लोकप्रिय सरकार का रूप है

(ख) अलोकप्रिय सरकार का रूप है

(ग) बहुत लोकप्रिय सरकार नहीं है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

2. लोकतंत्र की सफलता की शर्त -

(क) सक्षम जनमत का होना

(ख) लोगों में नैतिक स्तर का विकास होना

(ग) बहुत लोकप्रिय सरकार नहीं है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 16.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों की चर्चा करें।

(उत्तर - उपविषय 16.3.2)

2. लोकतंत्र के विभिन्न प्रकारों की समीक्षा करें।

(उत्तर - उपविषय 16.3.3)

3. लोकतंत्र के विभिन्न सिद्धांतों की समीक्षा करें।

(उत्तर - उपविषय 16.3.4)

### 16.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोकतंत्र की परिभाषा दें। लोकतंत्र के गुण एवं दोषों की चर्चा करें।

2. लोकतंत्र की सफलता की विभिन्न शर्तों का उल्लेख करें।

## 16.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | राजनीति सिद्धांत | – | M.P. Jain |
| 2. | रजनीति दर्शन की समस्याएँ | – | D.D. Raphael |
| 3. | राजनीति सिद्धांत | – | एडी आशीर्वादम् |


❖❖❖❖

# राजनीतिक आदर्श - समाजवाद

पाठ संरचना


17.1 उद्देश्य

17.2 विषय - प्रवेश

17.3 मुख्य विषय - राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद

- 17.3.1 उपविषय - 'समाजवाद' शब्द का अर्थ
- 17.3.2 उपविषय - 'समाजवाद' शब्द की परिभाषा
- 17.3.3 उपविषय - समाजवाद के प्रमुख लक्षण
- 17.3.4 उपविषय - समाजवाद का विकास एवं उसके समर्थक
- 17.3.5 उपविषय - समाजवाद के गुण
- 17.3.6 उपविषय - समाजवाद के दोष
- 17.3.7 उपविषय - निष्कर्ष

17.4 सारांश

17.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

17.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 17.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 17.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 17.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

17.7 प्रस्तावित पाठ


## 17.1 उद्देश्य

समकालीन जगत में समाजवाद एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आदर्श तथा एक महान आंदोलन के रूप में प्रस्थापित है। अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम 'समाजवाद' के अर्थ एवं परिभाषा से परिचित रहें। इसी उद्देश्य से इस पाठ की संरचना की गई है। सर्वप्रथम, हम समाजवाद के अर्थ एवं परिभाषा की व्याख्या करेंगे। इसके बाद हम समाजवाद के प्रमुख लक्षण, उसके विकास एवं उसके समर्थकों की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् हम समाजवाद के गुणों एवं अवगुणों की समीक्षा करेंगे। इससे हमें यह जानकारी मिलेंगी कि एक राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद कहाँ तक सफल है। अंत में हम 'समाजवाद' का मूल्यांकन करते हुए निष्कर्ष तक पहुँचेंगे।

## 17.2 विषय - प्रवेश

समाजवाद एक आर्थिक एवं सामाजिक पुनर्गठन के सिद्धान्त के रूप में नवीन है, किन्तु यह बिल्कुल ही नया सिद्धान्त नहीं है। Kirleup के अनुसार समाजवाद या Socialism शब्द का प्रयोग, "Poor Man's Guardian" में 1883 में हुआ था। 1835 में "Association of all Classes of all Nations" नामक संस्था की स्थापना राबर्ट आविन (1771-1858) के नेतृत्व में हुई। राबर्ट आविन एक सफल पूँजीपति थे और ''समाजवाद'' तथा ''समाजवादी'' शब्द का प्रचलन उसी संस्था में हुई बातचीत के दौरान हुआ। इसके तुरंत बाद इस शब्द को फ्रेंच लेखक, रेबॉड (Reybaud) ने इंगलैंड से माँगा और उसमें सेंट साइमन (Saint Simon), Charles Fourier (चार्ल्स फोरियर) तथा राबर्ट आविन (Robert Owen) के विचारों की चर्चा की।

समाजवाद का जन्म इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution in England) तथा French Enlightenment के फलस्वरूप हुआ। राबर्ट आविन की परवरिश औद्योगिक क्रांति के बीच हुई थी और वे फैक्ट्री-व्यवस्था के अवगुणों से भली-भाँति परिचित थें। सेंट साइमन ने भी सामंतशाही व्यवस्था के दोषों का अनुभव किया था। मार्क्स तथा एंजिल्स ने भी समाजवाद का प्रबल समर्थन किया।

अतः इन विचारकों ने समाज की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। समाज में फैले शोषण, बच्चों के, मजदूरों के, गरीबों के, भूमिहीनों के शोषण के विरूद्ध इन्होंने आन्दोलन छेड़ा। इस प्रकार, समाजवाद पूँजीवाद की बुराइयों के विरूद्ध एक प्रक्रिया है। समाजवादी विचारक समाज के पुनर्गठन की इच्छा रखते हैं। वे एक आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ पूँजीवादियों के द्वारा कोई शोषण न हो, जहाँ आर्थिक समानता हो, जहाँ सार्वजनिक कल्याण का लक्ष्य हो, जहाँ वस्तुओं का उत्पादन समाज-कल्याण या राष्ट्र हित में हो, जहाँ उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व हो, देश की समस्त भूमि पर तथा उद्योगों पर समाज (राज्य) का स्वामित्व हो।

## 17.3 मुख्य विषय : राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद

समाजवाद सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहता है। समाजवादी, चाहे वे किसी भी प्रकार के हों, गरीबी तथा विशेषाधिकार को दूर करना चाहते हैं, अधर्म तथा अपराध एवं और भी सामाजिक बुराइयों को जो आज के समाज को ग्रसित किए हुए हैं उन्हें भी दूर करना चाहते हैं। समाजवादी एक नए समाज की स्थापना करना चाहते हैं, एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ सबको अपनी अच्छाइयों को विकसित करने का समान अवसर प्राप्त हो।

इस प्रकार, एक राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद-

(i) वर्त्तमान समाज की आलोचना करते हैं

(ii) सामाजिक विकास का दर्शन देते हैं

(iii) सामाजिक आदर्श की स्थापना करते हैं

(iv) उस आदर्श की प्राप्ति करना चाहते हैं

दूसरे शब्दों में, प्रत्येक समाजवादी को समाजवाद की परिभाषा देने के क्रम में ऊपर वर्णित चारों तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। संक्षेप में, समाजवाद समाज के आदर्श स्वरूप की चर्चा करता है। धन उपार्जन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की स्थापना तथा समाज में सबों के लिए धन एवं सुख के साधनों का समान रूप से वितरण करना, समाजवाद का लक्ष्य है।

इस प्रकार, समाजवाद सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहता है।

### 3.1 उपविषय - ''समाजवाद'' शब्द का अर्थ

समाजवाद को अंग्रेजी में "Socialism" कहते हैं जो कि सोसियस (Socius) शब्द से निकलता है जिसका अर्थ है 'Society' या समाज। समाजवाद का सम्बन्ध समाज से है और यह पूँजीवादी व्यवस्था के अन्यायपूर्ण तरीकों से प्रेरित हुआ है। यह सामाजिक तथा आर्थिक अराजकता के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस अराजकता की जिम्मेदार है- पूँजीवादी व्यवस्था। यह मनुष्य के द्वारा मनुष्य के शोषण का विरोध करता है। यह खेतों में, कारखानों में, खदानों में, मजदूरों एवं बच्चों के शोषण का विरोध करता है। यह उस आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का भी विरोध करता है जो सेवा पर आधारित न होकर केवल मुनाफे की भावना पर आधारित है। समाजवादी विचारकों के अनुसार उनका विचार समाज में चल रही प्रतियोगिता को एक चुनौती है, जिस प्रतियोगिता की भावना ने मजदूरों एवं उनके परिवारों को भुखमरी की हालत में पहुँचा दिया है तथा समाज को दो वर्गो में बाँट दिया है- haves और have-nots शोषक और शोषित और उनमें आपसी द्वेष उत्पन्न कर दिया है।

संक्षेप में, समाजवाद समाज की सारी बुराइयों को दूर कर सामाजिक न्याय की कामना करता है।

### 3.2 उपविषय - 'समाजवाद' शब्द की परिभाषा

'समाजवाद' शब्द की ठोस परिभाषा देना बहुत कठिन है। इस सम्बन्ध में Ramsay Muir का कहना है- "It is a chamber like creed. It changes its colour according to its environment." उसी प्रकार C.E.M. Joad का कहना है, ''समाजवाद एक ऐसी टोपी बन गई है जिसका रूप बिगड़ चुका है, क्योंकि हर कोई व्यक्ति इसे पहनता है।''

समाजवाद का अर्थ बताने में कठिनाई इसलिए है क्योंकि इसमें आर्थिक सिद्धान्त तथा तर्कशास्त्र राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ इस तरह मिल गए हैं कि उन्हें अलग करना कठिन है। इसके अतिरिक्त समाजवाद का प्रयोग एक विशेष-व्यवस्था तथा जीवन-प्रणाली के लिए भी किया गया है।

समाजवाद की विभिन्न प्रसिद्ध परिभाषाएँ इस प्रकार से हैं :-

(i) एनसाइकक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार ''समाजवाद वह नीति अथवा सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता के द्वारा सम्पत्ति का आज से अधिक अच्छा वितरण और उत्पादन करना है।''

(ii) हम्फ्रे के अनुसार, ''समाजवाद एक सामाजिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत जीवन के साधनों पर समाज का स्वामित्व होता है और समाज कल्याण को बढ़ाने के उद्देश्य से उनका विकास और प्रयोग करता है।''

(iii) बर्ट्रेण्ड रसेक के अनुसार, ''समाजवाद को भूमि तथा सम्पत्ति के सामाजिक स्वामित्व का समर्थन बताया गया है।''

(iv) Dr. A. Appadorai के शब्दों में, "Socialism may be defined as a theory and a movement aiming at the collective organisation of the community in the interests of the mass of the people through common ownership and collective control of the means of production and exchange."

### 3.3 उपविषय : समाजवाद के प्रमुख लक्षण

सभी समाजवादी चाहे वह किसी भी शाखा के हा, नीचे लिखी सारी बातों को अवश्य मानते हैं-

(i) समाजवाद व्यक्ति की तुलना में समाज को अधिक महत्व देता है। यह जनहित में समाज की समुचित व्यवस्था को सर्वोच्च स्थान देता है।

(ii) उत्पादन और वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत नियंत्रण को हटाकर राज्य का नियंत्रण स्थापित करना चाहता है।

(iii) उत्पादन की सीमा का निर्णय निजी लाभ के विचार से नहीं, बल्कि सामाजिक आवश्यकता के आर पार करता है।

(iv) व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सामाजिक सेवा के सिद्धान्त को स्थापित करता है।

(v) आर्थिक क्षेत्र के खुले मुकाबले और मनमाने उत्पादन के स्थान पर सहयोग और निश्चित उत्पादन को स्थापित करता है।

(vi) समाजवाद नैतिकता के विकास पर भी बल देता है। समाजवादी व्यवस्था एक अच्छे चरित्र के निर्माण तथा मूल्यों के उचित मापदंड की स्थापना पर भी जोर देती है। इसमें लोगों का यह दायित्व हो जाना है कि वे अपनी क्षमता के अनुसार एक दूसरों की सेवा करें।

इस प्रकार, विचारकों के अनुसार समाजवादियों का वर्तमान व्यवस्था के विरूद्ध जो चुनौती है, वह मुख्य रूप से नैतिक है, यद्यपि इसका आधार आर्थिक है। समाजवाद एक शुभ सामाजिक वातावरण का निर्माण करना चाहता है और इसके लिए पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा लाई गई सामाजिक एवं आर्थिक अराजकता का अंत कर देना चाहता है।

### 3.4 उपविषय : समाजवाद का विकास एवं उसके समर्थक

सभी समाजवादी ऊपर वर्णित बिन्दुओं पर एकमत थे। मगर कुछ गौण बातों पर उनके विचार एक समान नहीं थे। उनका इन बातों को लेकर मतभेद था-

(i) समाजवादी योजना को कार्यान्वित करने के लिए समाज का स्वरूप कैसा होगा।

(ii) प्रादेशिक तथा स्थानीय सरकारों का केन्द्र सरकार के साथ कैसा सम्बन्ध होगा।

(iii) क्या कोई केन्द्रीय सरकार होगी अथवा कोई भी सरकार नहीं होगी।

इन बातों के अतिरिक्त समाजवादी इसकी स्थापना के तरीकों पर भी एकमत नहीं थे। कुछ यह चाहते थे कि क्रांति और संघर्ष के द्वारा इसकी तात्कालिक स्थापना हो जाए, तो कुछ यह चाहते थे कि वर्त्तमान संसदीय संस्थाओं के द्वारा धीरे-धीरे इसका विकास हो।

इन्हीं सब कारणें से समाजवाद के कई सम्प्रदायों का उदय हुआ और सबको अपना विशेष दर्शन था।

सेण्ट साइमन, रार्बट आविन, चार्ल्स फोरियर, आदि को यूटोपियायी समाजवादी माना जाता है तथा मार्क्स एवं एन्जिल्स को वैज्ञानिक समाजवादी माना जाता है।

**यूटोपियायी समाजवादी (Utopian Socialism)** - समाजवादी विचारधारा का बीज सबसे पहले प्लेटो की कृतियों में उनके "Republic" नामक रचना में पाई जाती है जहाँ उन्होंने व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ-साथ व्यक्तिगत परिवारों की समाप्ति का भी समर्थन किया है। मध्यकाल में भी चर्च इत्यादि की सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था थी। इंगलैंड में समाजवाद का प्रारंभ करने का श्रेय रार्बट आविन को प्राप्त है। आविन औद्योगिक क्रांति के बीच में पले-बढ़े थे और वे फैक्ट्री व्यवस्था की सारी बुराइयों से परिचित थे। वे लोगों को गरीबी, शोषण, आदि से मुक्त कराना चाहते थे। वे पूंजीपतियों और मजदूरों में प्रतियोगिता के पक्ष में नहीं थे, बल्कि उनको सहयोग के आधार पर चलाना चाहते थे।

फ्रांस में आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत खराब थीं। अतः वहाँ अनेक यूटोपियायी समाजवादी हुए जिनमें सेंट साइमन (Saint Scimon) अधिक प्रसिद्ध है। उन्होंने आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में प्रतियोगिता का विरोध किया और सहयोग पर विशेष बल दिया।

चार्ल्स फोरियर भी एक फ्रांसिसी समाजवादी थे जिनका यह विचार था कि सामाजिक सुख के लिए समाज का स्वतंत्र वर्गो में पुनगर्ठन होना चाहिए और लोगों को मुनाफे के लिए नहीं, बल्कि सुख के लिए कार्य करना चाहिए।

वास्तविकता अथवा यथार्थता की कमी के कारण यूटोपियन समाजवाद का ह्रास हुआ। यूटोपियन समाजवाद वास्तविक कम आदर्शवादी अधिक था। इसलिए कार्ल मार्क्स तथा एन्जिल्स (Marx and Engels) ने जब वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार किया तो यूटोपियन समाजवाद का ह्रास हो गया।

**वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism)** - समाजवाद के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली नाम निःसंदेह कार्ल मार्क्स का है। मार्क्स एवं उनके मित्र एन्जिल्स ने समाज के हर पक्ष पर विचार किया और उसकी एक वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार किया तो यूटोपियन समाजवाद का ह्रास हो गया।

**वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism)** - समाजवाद के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली नाम निःसंदेह कार्ल मार्क्स का है। मार्क्स एवं उनके मित्र एन्जिल्स ने समाज के हर पक्ष पर विचार किया और उसकी एक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके आधार पर उन्होंने अपने विचारों को मूर्त्त रूप दिया। इसलिए इनके विचारों को वैज्ञानिक समाजवाद अथवा साम्यवाद के नाम से जाना जाता है।

कार्ल मार्क्स का समाजवाद पर जो विचार है वह 1848 में "Communist Manifestos" नामक ग्रंथ में प्रकाशित हुआ तथा "Das Kapital (Capital) जिसे साम्यवाद का बाइबल माना जाता है, में प्रकाशित हुआ।

मार्क्स के सिद्धान्तों की संक्षेप में इस प्रकार व्याख्या की गई है-

(i) इतिहास की भौतिक व्याख्या

(ii) धन के संचय का सिद्धान्त

(iii) वर्ग-संघर्ष

मार्क्स का यह विचार था कि पूंजीपति मजदूरों का शोषण करते हैं। क्रांति के द्वारा उनका नाश कर देना चाहिए तथा उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होना चाहिए। यह तभी संभव है जब समाजवादी राज्य की स्थापना होगी जहाँ निजी सम्पत्ति के स्थान पर सामूहिक सम्पत्ति होगी, न कोई पूँजीपति होगा और न ही कोई मजदूर, सभी लोग सहयोगी उत्पादक के रूप में कार्यरत होंगे।

इस प्रकार, एक वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी। इसके बाद चूंकि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होगी और वह स्वतः समाप्त हो जायेगी। यह होगा राज्य-विहीन, वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन समाज।

यह था कार्ल-मार्क्स का वैज्ञानिक समाजवाद सम्बन्धी विचार।

अब हम समाजवाद के गुण एवं दोष की चर्चा करेंगे।

### 3.5 उपविषय : समाजवाद के गुण

समाजवाद के निम्नलिखित गुण हैं-

**(i) समाजवाद मानव-व्यक्तित्व के सम्मान का समर्थन करता है** - समाजवाद मानव व्यक्तित्व के सम्मान की रक्षा करता है और समानता एवं स्वतंत्रता की स्थापना करना चाहता है। यह व्यक्ति के गुणों को उभारता है तथा उन्हें अधिकारों को भोगने का अवसर प्रदान करता है।

**(ii) समाजवाद सामाजिक शुभ का समर्थन करता है** - समाजवाद सम्पूर्ण समाज के हित की बात करता है तथा व्यक्तिगत शुभ से ऊँचा सामाजिक शुभ को मानता है।

**(iii) समाजवाद पूँजीवाद का विरोध करता है** - समाजवाद पूँजीवाद का विरोध करता है क्योंकि पूँजीवाद शोषण पर आधारित है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरों का शोषण होता है, आर्थिक असमानता व्याप्त रहती है, कुछ लोगों के हाथों में धन संचित रहता है इत्यादि। ऐसी आर्थिक असमानता से सामाजिक प्रगति रूक जाती है।

इसलिए समाजवाद इस शोषण का अन्त करके सारे समाज में समानता स्थापित करना चाहता है। इसके लिए यह भूमि एवं सम्पत्ति पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने की बात करता है तथा धन एवं सुख के साधनों का समान वितरण करना चाहता है।

**(iv) समाजवाद खुली आर्थिक प्रतियोगिता से उत्पन्न धन की बर्बादी को बचाता है** - पूँजीवादी समाज की आवश्यकता के अनुसार वस्तु का उत्पादन नहीं करने, बल्कि अपने हितों के अनुसार उत्पादन करते हैं। समाजवाद पूँजीवाद के इन सब दोषों को दूर करता है और खुली प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता पर विशेष बल देता है।

**(v) समाजवाद पूँजीवाद की अपेक्षा न्याय पर अधिक आधारित है** - समाजवाद न्याय पर इसलिए आधारित हैं क्योंकि यह भूमि, खान और कारखानों, जहाजा तथा रेल मार्गो पर सारे समाज के नियंत्रण की बात करना है।

**(vi) समाजवाद पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक लोकतंत्रीय है** - पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक समानता का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि देश का धन थोड़े व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठा हो जाता है। जहाँ अधिक आर्थिक असमानता होगी वहाँ लोकतंत्र सफल ही नहीं हो सकता है। अतः लोकतंत्र की सफलता के लिए समाजवाद का होना आवश्यक है।

**(vii) समाजवाद अधिक स्वाभाविक है** - समाजवाद का यह विचार है कि प्रकृति ने हवा, पानी, वर्षा आदि सब व्यक्तियों को समान रूप में बाँटा है, अतः यही उपयुक्त है कि भूमि तथा खनिज पदार्थो पर सबका समान नियंत्रण होना चाहिए।

**(viii) यह अधिक वैज्ञानिक है** - यह अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि जहाँ पूँजीवाद थोड़े से व्यक्तियों के हित की रक्षा करता है वहीं समाजवाद सारे समाज के हित की ओर ध्यान देता है तथा व्यक्ति को समाज के हित में कार्य करने की प्रेरणा देता है।

**(ix) इसका स्वरूप नैतिक है** - समाजवाद का स्वरूप नैतिक है, यद्यपि इसका आधार आर्थिक है। यह नागरिकों पर यह दायित्व देता है कि वे अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूसरे नागरिकों की सेवा करें।

समाजवाद सामाजिक न्याय की स्थापना करना चाहता है।

### 3.6 उपविषय : समाजवाद के दोष

समाजवाद के निम्नलिखित दोष बताए गए हैं-

**(1) यह निरंकुशता तक पहुँचने की सीढ़ी है** - आलोचकों के अनुसार समाजवाद के नाम पर सरकार के हाथ में अत्यधिक शक्ति चली जाती है जिससे वह निरंकुश भी हो सकती है।

**(2) इससे व्यक्तिगत उत्साह नष्ट हो जाता है** - चूँकि उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण हो जाता है, अतः व्यक्ति में अधिक उत्पादन करने का उत्साह घट जाता है।

**(3) अयोग्यता** - समाजवाद के अन्तर्गत राज्य के कार्य इतने बढ़ जायेंगे कि वह उनको ठीक तरह से निभा नहीं सकेगा। समाजवाद के अन्तर्गत राज्य को न केवल रक्षात्मक कार्य करने होंगे, बल्कि उत्पादन का भी नियन्त्रण करना होगा। राज्य के लिए इतने सारे कार्यो को संभालना कठिन होगा।

**(4) भ्रष्टाचार अथवा बेइमानी** - चूँकि राज्य सारे निजी उद्योगों का मालिक हो जाता है, अतः भ्रष्टाचार एवं बेइमानी के अधिक अवसरों का सृजन होता है।

**(5) समाजवाद व्यवहार में असफल है** - आलोचकों के अनुसार आर्थिक असमानता तथा सामाजिक दुःखों को दूर करके शांति और आर्थिक असमानता तथा सामाजिक दुःखों को दूर करके शांति और आर्थिक समृद्धि लाना व्यवहार में बहुत कठिन है।

**(6) समाजवाद समाज को दो वर्गों में बाँट देता है** - समाजवाद समाज को स्पष्ट रूप से दो वर्गों में बाँट देता है- पूँजीवादी तथा मजदूर, Haves और Have-nots. ऐसी स्थिति में हम कभी भी दोनों के मिलने की संभावना के बारे में सोच ही नहीं सकते हैं।

**(7) इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है** - समाजवाद में राज्य के कार्य और शक्तियाँ इतनी बढ़ जाती हैं कि इसे व्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो जाता है। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का ह्रास होता है।

**(8) उपभोक्ता को कठनाई** - उपभोक्ताओं को इसलिए कठिनाई होगी क्योंकि उन्हें अपनी आवश्यकताओं को उत्पादन के अनुसार ही करना होगा।

इस प्रकार, समाजवाद में कई प्रकार के दोष हैं।

### 3.7 उपविषय : निष्कर्ष

हमने समाजवाद के गुण एवं दोष का अवलोकन किया। हमने देखा कि कैसे समाजवाद के अन्तर्गत सामूहिक स्वामित्व तथा सामूहिक प्रबंधन होगा। चूँकि उत्पादन आवश्यकता अनुसार ही होगा, अतः वस्तुओं की बर्बादी, हानिकारक वस्तुओं का उत्पादन, अनावश्यक प्रचार, आदि पर धन का खर्च कम हो जाएगा। अतः समाजवादी आदर्श की प्राप्ति होगी जिसके अनुसार व्यक्तियों में सामाजिक शुभ अथवा समाज कल्याण की भावना का उदय होना आवश्यक है।

समाजवाद के समर्थकों के अनुसार, "Collective ownership and collective management, it is claimed, is thoroughly democratic." इसके समर्थकों के अनुसार समाजवाद लोकतंत्र तक पहुँचने की ही सीढ़ी हैं।

मगर, कहा जात है कि समाजवाद व्यक्तिगत प्रगति में बाधक है। काम करने की इच्छा या अधिक उत्पादन करने की इच्छा का यहाँ ह्रास होता है। चूँकि उत्पादन के सारे साधन सरकारी नियंत्रण के अधीन हो जाते हैं अतः व्यक्तिगत उत्साह नष्ट हो जाता है जिससे चरित्र में भी गिरावट आ जाती है। Hobert Spencer के शब्दों में, "Each member of the community will be a slave of the community as a whole socialism would repress individuality. Genius would be satisfied and citizens would be sapped by bureaucraes and departmentalism would become supreme." फिर, समाजवाद को व्यवहार में लागू करना भी कठिन है।

यद्यपि, समाजवाद की कई आलोचनाएँ हुई हैं, परन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि संसार की प्रगतिशील शक्तियाँ पूँजीवाद के विरूद्ध तथा समाजवाद के साथ हैं। समाजवाद आज संसार के विभिन्न भागों में किसी न किसी रूप में फैल चुका है। रूस, चीन, पूर्वी जर्मनी, बल्गेरिया, युगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया, पोलैंड, रूमानिया, हंगरी, फिनलैंड आदि देशों में समाजवाद आ चुका है। समाजवाद में जो भी त्रुटियाँ हैं, उनमें बहुत सी दूर हो सकती हैं और निश्चित रूप से पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद से श्रेष्ठ है, क्योंकि इसका उद्देश्य समाज में आर्थिक असमानता को दूर करना है और सारे समाज में सुख, शांति और समृद्धि लाना है।

## 17.7 सारांश

समाजवाद समाज अथवा राज्य को शुभ मानता है। समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन और विनिमय के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित को सम्पूर्ण समाज का दर्शन कहा जाता है। इसलिए इसके विभिन्न पक्ष हैं- राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि। समाजवाद समाज को अवयवी विचारता है और व्यक्तियों को उसका अंग। इसमें व्यक्तियों की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व दिया जाता है।

समाजवाद उन प्रवृत्तियों का समर्थक है जो सार्वजनिक कल्याण को लक्ष्य बनाते हैं। इसका लक्ष्य है व्यक्ति का अधिकाधिक सामान्य शुभ। इस व्यवस्था में समानता लाने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए समाजवाद में सम्पत्ति को समाज का अधिकार माना जाता है। यह उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व मानता है। देश की समस्त भूमि पर तथा भारी और आधारभूत उद्योगों पर समाज (राज्य) का स्वामित्व होता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में वैसी ही वस्तुओं और सेवाओं का तथा उतनी ही मात्रा में उत्पादन होता है जो देश के लिए आवश्यक है। इसलिए इसमें अनावश्यक प्रतिस्पर्धा नहीं होने से आर्थिक बर्बादी कम होती है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से धन का वितरण समान होता है। वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति का लक्ष्य समाज-कल्याण या राष्ट्रहित होता है। इसलिए समाजवाद की स्थापना से वर्ग-संघर्ष मिट जाता है और आर्थिक विषमता दूर होती है।

समाजवादी धारणा के अनुसार मनुष्य स्वार्थी नहीं, परार्थी होता है। इसलिए समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति को अपने विकास का पूर्ण और समान अवसर प्राप्त होता है।

मगर, आलोचकों के अनुसार समाजवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं प्रगति में बाधक है। इसमें श्रम की प्रेरणा का नाश हो जाता है। काम करने का उत्साह नष्ट हो जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर इतनी पाबन्दी लगा दी जाती है कि उसका नैतिक उत्थान रूक जाता है। राज्य के कार्य इतने अधिक बढ़ जाते हैं कि वह उनको ठीक तरह से निभा नहीं सकता है। समाजवाद के नाम पर अत्यधिक शक्ति चली आती है जिससे वह निरंकुश भी हो जाता है। आलोचकों के अनुसार समाजवाद को व्यवहार में लागू करना अत्यधिक कठिन है।

इन आलोचनाओं के बावजूद हम कह सकते हैं कि एक राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद को कई विचारकों ने सराहा है।

## 17.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

समाजवाद, राजनीतिक आदर्श, राजनीतिक दर्शन, महान आंदोलन, सामाजिक पुनर्गठन, सामाजिक व्यवस्था, केन्द्रीय लोकतान्त्रिक सत्ता, सामाजिक स्वामित्व, सामाजिक कल्याण, आर्थिक समानता, उत्पादन और वितरण, मनमाने उत्पादन, सहयोग, निश्चित उत्पादन, सर्वहारा, व्यक्तिगत नियंत्रण, व्यक्तिगत सम्पत्ति, आदर्शवादी, समाजीकरण, सामाजिक प्रगति, पूँजीवादी व्यवस्था, आर्थिक असमानता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, निरंकुश, आर्थिक समृद्धि, सरकारी नियंत्रण, भ्रष्टाचार, रक्षात्मक कार्य, खुली प्रतियोगिता, सहकारिता, हस्तक्षेप, प्रगतिशील शक्तियाँ।

## 17.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. समाजवाद का लक्ष्य है

(क) धन का समान वितरण

(ख) सम्पत्ति का समान वितरण

(ग) उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व तथा आर्थिक समानता

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

2. वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्त्तक हैं-

(क) संत साइमन और वार्ल्स फोरियर

(ख) कार्ल मार्क्स तथा एजिल्स

(ग) राबर्ट आविन तथा अन्य

(घ) ऊपर में कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. समाजवाद के अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा करें।

   (उत्तर - देखें उपविषय 3.1 और 3.2)

2. समाजवाद के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करें।

   (उत्तर - उपविषय 3.4)

### 6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एक राजनीतिक आदर्श के रूप में समाजवाद की समीक्षा करें।

2. समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की समीक्षा करें।

## 17.7 प्रस्तावित पाठ


(1) राजनीति सिद्धान्त – M. P. Jain

(2) राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त – A. C. Kapur

(3) राजनीति सिद्धान्त – Eddy Asirvatham.


❖❖❖❖

# राजनीतिक आदर्श : मार्क्सवाद एवं साम्यवाद

पाठ संरचना


18.1 उद्देश्य

18.2 विषय-प्रवेश

18.3 मुख्य विषय - मार्क्सवाद एवं साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त

- 18.3.1 उपविषय - 'मार्क्सवाद' पद का अर्थ
- 18.3.2 उपविषय - मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्त
- 18.3.3 उपविषय - मार्क्सवाद का विकास
- 18.3.4 उपविषय - मार्क्सवाद के गुण
- 18.3.5 उपविषय - मार्क्सवाद के अवगुण
- 18.3.6 उपविषय - 'साम्यवाद' पद का अर्थ
- 18.3.7 उपविषय - साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त
- 18.3.8 उपविषय - साम्यवाद के दोष
- 18.3.9 उपविषय - निष्कर्ष

18.4 सारांश

18.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

18.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 18.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 18.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 18.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

18.7 प्रतावित पाठ


## 18.1 उद्देश्य

समाज एवं राजनीति दर्शन के इतिहास में मार्क्सवाद एवं साम्यवाद का अत्यधिक महत्व है। ये वे राजनीतिक आदर्श हैं जिन्होंने समाज एवं सरकार के आदर्श मापदंड की स्थापना की है। अतः मार्क्सवाद एवं साम्यवाद के विषय में जानकारी होना आवश्यक है। इसी लक्ष्य से इस पाठ की संरचना की गयी है। सर्वप्रथम, हम मार्क्सवाद के अर्थ, विकास, प्रमुख सिद्धान्त, गुण एवं अवगुणों की चर्चा करेंगे। फिर, साम्यवाद के अर्थ, प्रमुख सिद्धान्त, अवगुण आदि की चर्चा करेंगे। अंत में हम मार्क्सवाद एवं साम्यवाद दोनों की समीक्षा करते हुए अपना निष्कर्ष देंगे।

## 18.2 विषय प्रवेश

समाजवाद के इतिहास में सबसे प्रभावशाली नाम निःसंदेह कार्ल मार्क्स का ही है। समाजवाद एवं साम्यवाद का वास्तविक जन्मदाता कार्ल मार्क्स है। मार्क्स एक समाज-दार्शनिक है। उन्होंने समाज के हर पक्ष पर विचार किया और उसकी एक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि तो तैयार की ही, साथ-साथ अपने विचारों को भी मूर्त्त रूप दिया। अपने जीवन-काल में मार्क्स को यूरोपीय कामगार वर्ग का सर्वश्रेष्ठ नेता माना जाता था। आज उसे आधुनिक समाजवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है। मार्क्स का जीवन-काल 1818-1883 तक का था। उन्होंने एजिल्स (Engels) के साथ सन् 1848 में "The Manifesto of the Communist Party" प्रकाशित किया। 1867 में एक और भी महत्वपूर्ण प्रकाशन हुआ जो "Das Kapital" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

मार्क्स के विचारों पर यूरोप की औद्योगिक क्रांति का तथा हेगेल और फ्यूरवाक (Hegel and Feurbach) के दार्शनिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। हेगेल से उन्होंने द्वन्द्वात्मक विधि ग्रहण की जिसके अनुसार कोई भी प्रगति तभी संभव है जब किसी बाद का प्रतिवाद हो। फ्यूरवाक से मार्क्स ने सीखा कि ''ईश्वर ने मनुष्य को नहीं बनाया है, बल्कि मनुष्य ने ईश्वर को बनाया है। Marx के ही शब्दों में, "Man makes religion; religion does not make man." मार्क्स के अनुसार धर्म लोगों का अफीम या नशा है। (Religion is the opium of the people.) ईश्वर केवल मनुष्य के मन में ही रहता है।

इस प्रकार, मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद के वास्तविक जन्मदाता कार्ल मार्क्स ही हैं। मार्क्स के ही साम्यवादी विचारों को रूस में लेनिन और स्टैलिन ने तथा चीन में माओ-सी-तुंग ने विकसित किया।

## 18.3 मुख्य विषय : मार्क्सवाद एवं साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त

मार्क्सवाद तथा साम्यवाद पूँजीवाद की बुराइयों का जोरदार खंडन करता है। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। समाज दो वर्गों में बँट गया- पूँजीपति तथा श्रमिक। निजी सम्पत्ति का विकास उत्पादन के साधनों का निजीकरण पूंजीवादी व्यवस्था के प्रमुख लक्षण थे। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वस्तुओं का उत्पादन उपयोग के लिए नहीं, बल्कि मुनाफे के लिए किया जाता था।

पूँजीवाद तथा औद्योगिकरण के फलस्वरूप एक नये वर्ग का जन्म हुआ- ''मजदूर वर्ग।'' इस वर्ग का शोषण बढ़ा और उनमें प्रतिक्रिया हुई।

मार्क्सवाद और साम्यवाद एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जिसमें उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होगा, निजी सम्पत्ति तथा शोषण का अन्त होगा। मार्क्स ने कहा कि अन्त में राज्य विहीन तथा वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार धन का उत्पादन करे और उसे आवश्यकता अनुसार मिले।

इस प्रकार, मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त हैं-पूँजीवादी व्यवस्था का नाश, वर्ग विहीन समाज की स्थापना, सामूहिक स्वामित्व तथा आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण।

### 18.3.1 उपविषय : 'मार्क्सवाद' पद का अर्थ

'मार्क्सवाद' कार्ल मार्क्स के द्वारा दिया गया एक राजनीतिक आदर्श है। मार्क्सवाद को राजनीति दर्शन के क्षेत्र में एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद को मार्क्सवाद (Marxism) अथवा वैज्ञानिक समाजवाद या साम्यवाद (Scientific Socialism) भी कहा जाता है।

सेन्ट साइमन, चार्ल्स फोरियर तथा राबर्ट आविन के यूटोपियन समाजवाद से अलग कार्ल मार्क्स ने अपने

वैज्ञानिक समाजवाद का प्रचार किया। "Marx made socialism scientific by establishing a close relationship between it and the dominant scientific theories of the age, shawing it to be the necessary result of the laws of economics and history."

मार्क्स के ''साम्यवादी घोषणा-पत्र'' (Communist Manifesto) में मार्क्सवाद सामाजिक पुनर्गठन का एक सिद्धान्त माना गया है। एक क्रांतिकारी प्रोग्राम के रूप में मार्क्सवाद उस संघर्ष का विश्लेषण करता है जो सर्वहारा तथा पूँजीवाद के बीच चलता है तथा जिसके फलस्वरूप सर्वहारा को सत्ता की प्राप्ति होती है तथा एक वर्गविहीन समाज की प्राप्ति होती है। समकालीन युग में मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दर्शन, एक क्रांतिकारी प्रोग्राम तथा सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के लिए एक प्रगतिशील कार्यक्रम के रूप में जाना जाता है। मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष तथा क्रांति या हिंसात्मक ढंग से सर्वहारा (Proletariat) द्वारा सत्ता की प्राप्ति। मार्क्स ने अपने साम्यवादी घोषण-पत्र (Communist Manifesto) में कहा है कि, ''साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में अवश्य ही एक विधि का सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिसके द्वारा पूँजीवाद को समाजवाद में बदला जा सकता है और इसके दो आवश्यक सिद्धान्त हैं- वर्ग संघर्ष तथा क्रांति या हिंसात्मक ढंग से सर्वहारा (Proletariat) द्वारा सत्ता की प्राप्ति।

### 18.3.2 उपविषय : कार्ल मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त

**(i) द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद (Dialectical Materialism)** - मार्क्सवाद का आरंभ हेगेल के द्वन्द्वात्मक विधि से होता है। हेगेल ने द्वन्द्वात्मक विधि-वाद, प्रतिवाद तथा संवाद (Thesis, Anti-thesis and synthesis) का प्रयोग भौतिक जगत में किया जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से जाना गया। मार्क्स ने भी भौतिक द्रव्य को मौलिक बतलाया और विकास की प्रणाली द्वन्द्वात्मक बतलाई है। द्वन्द्वात्मक विधि के द्वारा मार्क्स ने मानव-समाज के विकास की कहानी बतायी। उनके अनुसार अगर पूँजीवाद है तो पूँजीवाद और सर्वहारा के बीच का संघर्ष प्रतिवाद है तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना संवाद है।

**(ii) इतिहास की भौतिक या आर्थिक व्याख्या (Economic or Materialistic Interpretation of History)** - इस सिद्धान्त के अनुसार विकास की विधि द्वन्द्वात्मक है, मगर उसका स्वरूप भौतिक है। मार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं की जीवन की भौतिक अवस्थाओं की दृष्टि से व्याख्या की जा सकती है। मार्क्स के अनुसार, ''.....भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक विधियों के सामान्य स्वरूप को निश्चय करती है।'' प्रत्येक युग में जिस वर्ग का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रहता है, उसी का राजनीतिक सत्ता पर भी अधिकार हो जाता है।

मार्क्स ने मानव जाति के इतिहास को उत्पादन-सम्बन्धों के आधार पर छः भागों में बाँटा है-

**(क) आदिम साम्यवादी युग (Age of Primitive Communism)** -जमीन तथा हस्तशिल्प आदि पर सामूहिक अधिकार था। व्यक्तिगत अधिकार की धारणा उस युग में नहीं थी।

**(ख) दासत्व युग (Age of Slavery)** - व्यक्तिगत सम्पत्ति का युग हुआ। सम्पत्ति के अधिकारी ने सम्पत्तिविहीन लोगों को दास बनाया।

**(ग) साम्यवादी युग (Age of Feiudalism)** - उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का अधिकार हुआ। समाज दो वर्गों में बँट गया-भूमि के मालिक तथा भूमिविहीन किसान।

**(घ) पूँजीवादी युग (Age of Capitalism)** - मशीनों का आविष्कार हुआ और पूँजीपति मशीन तथा मिलों के स्वामी हुए। मशीनों के कारण बेकारी बढ़ी और गरीब लोग मजदूरी करने लगे। समाज दो वर्गों में बँट गया-पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग। दोनों में वर्ग-विरोध कायम हुआ।

**(iii) सर्वहारा की तानाशाही (Dictatorship of the Proletariat)** - वर्ग-संघर्ष के फलस्वरूप सर्वहारा की विजय हुई और पूँजीवादियों का नाश हुआ।

**(vi) साम्यवादी युग (Age of Communism)** - उत्पादन के सभी साधनों पर श्रमिकों का अधिकार हुआ। वर्ग-विहीन, राज्य विहीन तथा शोषण विहीन समाज की स्थापना हुई जो साम्यवाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

**(ग) पूँजीवादी व्यवस्था का मार्क्सवादी विश्लेषण (Marxian Analysis of Capitalist Order)** - मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में अत्यधिक उत्पादन के फलस्वरूप मध्यम वर्ग धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग में डूब जाता है।

**(घ) धन के संचय का सिद्धान्त (The Law of Concentration of Capital)** - मार्क्स की यह भविष्यवाणी थी कि उद्योगों के एकाधिकारीकारण (Mono-polization of the industry) के फलस्वरूप धन कुछ ही पूँजीपतियों के हाथ में संचित हो जाएगा।

**(ङ) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)** - मार्क्स का कहना है कि मजदूर अपनी मेहनत से उत्पादन करते हैं किन्तु पूँजीपति उन्हें पूरा नफा नहीं देते हैं। मार्क्स का कहना था कि पूँजीपति श्रमिकों के श्रम का कम-से-कम मूल्य लगाते हैं और उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं को अधिक से अधिक दाम पर बेचते हैं। इस प्रकार, पूँजीपतियों का जितना श्रमिकों के वेतन में खर्च होता था उससे बहुत अधिक कीमत उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओं से मिल जाती थी। इस प्रकार, लागत व्यय और उत्पादित वस्तुओं के मूल्य में जो अन्तर होता है, उसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है।

**(च) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त (Theory of Class War)** - मार्क्स का कहना है कि मानव-जाति के इतिहास में शुरू से ही दो वर्ग चले आए हैं- एक शोषकों का और दूसरा शोषितों का। इन दोनों के बीच का संघर्ष तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक पूंजीवाद का नाश और मजदूरों की विजय नहीं होगी। इस प्रकार, पूँजीवाद में अपने विनाश के कीटाणु मौजूद हैं (Capitalism carries with it the seeds of its own destruction).

**(छ) क्रांति निश्चित (Revolution Inevitable)** - मार्क्स के अनुसार, "Force is the midwife of every old society pregnant with a new one." मार्क्स ने कहा कि पूँजीवाद का नाश अवश्य होगा मगर इसके लिए मजदूरों को क्रांति करनी चाहिए। मार्क्स ने साम्यवादी घोषण पत्र के अन्त में लिखा ''....मजदूरों को पूँजीवाद की जंजीरें छोड़ने के अतिरिक्त और कोई हानि नहीं होगी। उन्हें संसार को जीतना है। इसलिए सारे संसार के मजदूरो, इकट्ठे हो।''

**(ज) सर्वहारा वर्ग की तानाशाही तथा साम्यवाद की स्थापना (Doctatorship of the Proletariat and the Establishment of Communism)** - मार्क्स ने कहा कि क्रांति के पश्चात् पूँजीवाद का अन्त तथा मजदूर वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाएगी। उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होगा, निजी सम्पत्ति तथा शोषण का अन्त हो जायेगा।

**(झ) राज्य का नाश (The Withering Away of the State)** - मार्क्स ने कहा कि अन्त में राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार धन का उत्पादन करें और उसे आवश्यकता अनुसार मिलें।

**(ञ) धर्म-लोगों का नशा (Religion is the Opium of the People)** - मार्क्स ने धर्म का भी विरोध किया क्योंकि धर्म की आड़ में भी शोषण होता है। मार्क्स ने तो यह भी कहा कि निजी सम्पत्ति के अंत के साथ परिवार की संस्था का भी अंत हो जाएगा।

### 18.3.3 उपविषय : मार्क्सवाद का विकास

मार्क्सवाद के इतिहास की अपनी महत्ता है। कहा जाता है कि दर्शन किसी जंगली पौधे की तरह दार्शनिकों के मन में नहीं उपजते हैं। पूँजीवाद तथा औद्योगिकरण के फलस्वरूप एक नये वर्ग का जन्म हुआ- ''मजदूर वर्ग।'' इंगलैंड की औद्योगिक क्रांति तथा फ्रांसीसी क्रांति ने मोर, संत साइमन, राबर्ट आविन आदि के विचारों को प्रेरित किया। किन्तु, इनका यूरोपियन समाजवाद आदर्शवादी एवं अव्यावहारिक होने के कारण असफल रहा।

अतः मार्क्स जो फ्रांसिसी ज्ञानोदय (French Enlightenment), अंग्रेजी अर्थशास्त्री (English economists), हेगेल के द्वन्द्वात्मक विधि (Hegelian Dialectics), फ्योरबैक के भौतिकवाद (Fuerback's materialism), यूटोपियन समाजवाद (Utopian Socialism) आदि से प्रभावित थे, ''वैज्ञानिक समाजवाद'' (Scientific Socialism) का सिद्धान्त दिया। मार्क्स ने अपने मित्र एजिंल्स की सहायता से समाजवाद पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''साम्यवादी घोषणा पत्र'' (Communist Manifesto) की सूचना दी। उसके बाद उन्होंने अपना विश्व प्रख्यात ग्रंथ "Das Kapital" लिखा जो समाजवाद का Bible कहलाया।

मार्क्सवाद के विकास तथा उसके प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा के पश्चात् अब हम उसके गुणों की चर्चा करेंगे।

### 18.3.4 उपविषय : मार्क्सवाद के गुण

मार्क्सवाद के निम्नलिखित गुण हैं-

(i) एक जोरदार शक्ति (A Tremendous Force) : मार्क्स के विचारों का असंख्य जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(ii) मजदूरों के लिए आशा (Hope to Workers) : एक ऐसे युग में जब मजदूरों का निर्दयता से शोषण हो रहा था, मार्क्सवाद उनके लिए आशा का संदेश लाया। मार्क्स ने सारे संसार के मजदूरों को इकट्ठा होने का संदेश दिया।

(iii) स्पष्ट सिद्धान्त (Clear-cut Theory) : मार्क्स ने स्पष्ट सिद्धान्त दिए जिसका पूँजीपतियों द्वारा शोषित मजदूरों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

(iv) शोषितों के लिए भयानक (Terror to Exploiters) : मार्क्सवाद के गहरे प्रभाव ने पूंजीपतियों के मन में गहरा भय उत्पन्न कर दिया था।

(v) व्यावहारिकता (Practical) : मार्क्स ने न केवल सिद्धान्त दिया वरन् उन्होंने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए क्रांतिकारी उपायों की घोषणा भी की। उन्होंने क्रांति के सारे उपायों का विवरण दिया ताकि मजदूर विजयी हो।

किन्तु, इन गुणों के अतिरिक्त मार्क्सवाद में कुछ अवगुण भी हैं-

### 18.3.5 उपविषय : मार्क्सवाद के अवगुण

**(1) मार्क्सवाद के इतिहास की भौतिक व्याख्या एकपक्षीय है** - मार्क्स ने केवल आर्थिक कारणों को मानव इतिहास के परिवर्तन के लिए जिम्मेदार ठहराया है। मगर ऐसा नहीं है। यह व्याख्या एकपक्षीय है तथा ऐसा करने से इतिहास की व्याख्या संकुचित हो जाएगी। भौगोलिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक कारण भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

**(2) मार्क्सवाद बहुत ही सैद्धांतिक तथा अमूर्त है** - मार्क्स की वह भविष्यवाणी थी कि धन कुछ ही लोगों के हाथ में संचित हो जाएगा और गरीब और गरीब हो जायेंगे, यह सच नहीं हुआ। आज गरीबों की हालत बहुत अधिक सुधर गयी है क्योंकि अनेक देशों में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो चुकी है।

**(3) राज्य का लोप नहीं हुआ है** - मार्क्स की यह भी भविष्यवाणी थी कि राज्य का लोप हो जाएगा, किन्तु आज तक किसी भी राज्य का लोप नहीं हुआ है।

**(4) वर्ग-संघर्ष की धारणा पूर्णतः सत्य नहीं है**-किसी भी देश के इतिहास में हम यह नहीं पाते हैं कि समाज स्पष्ट रूप से दो वर्गो में बँटा हुआ है, जो बिल्कुल एक दूसरे से अलग हैं तथा जिनके बीच गहरी खाई है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा समस्याओं का अन्त हो जाएगा तथा एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना होगी, यह भी पूर्णतः सत्य नहीं है।

**(5) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी पूर्णतः सत्य नहीं है** - मार्क्स ने केवल श्रम को ही धन का एकमात्र स्रोत माना है, जबकि उत्पादन में पूँजी, मशीन आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

**(6) मार्क्सवाद तोड़-फोड़ तथा हिंसा में विश्वास करता है**- मार्क्सवाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए तोड़-फोड़ तथा हिंसात्मक तरीकों को अपनाने के लिए प्रेरित करता है, जो कि ठीक नहीं है।

**(7) मार्क्स का वर्ग-विहीन समाज कल्पना-मात्र है**- वर्गविहीन समाज की स्थापना अव्यावहारिक है, एक यूटोपियन स्वप्न की तरह है।

**(8) मार्क्सवाद धर्म को कोई महत्व नहीं देता** - मार्क्सवाद धर्म के नाम पर जो व्यक्ति लोगों का शोषण करते हैं, उनकी आलोचना की बजाय धर्म की ही आलोचना करता है, जो कि गलत है।

**(9) मार्क्सवाद वैमनस्य का प्रचार करता है** - द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष आदि का सिद्धान्त देकर मार्क्स ने वैमनस्य तथा कट्टरता की भावनाओं का प्रचार किया है।

इस प्रकार, मार्क्सवाद में अनेक कमियाँ हैं।

### 18.3.5 उपविषय - 'साम्यवाद' पद का अर्थ

समकालीन विश्व में साम्यवाद असंख्य लोगों के लिए एक सामाजिक दर्शन, क्रांतिकारी प्रोग्राम तथा सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आधार के रूप में प्रसिद्ध है। साम्यवाद का गहरा प्रभाव रूस, चीन तथा अनेक पूर्वी यूरोपीय देशों पर पड़ा।

C.E.M. Joad के शब्दों में, "Communism is a word with many different meanings."

कभी साम्यवाद का प्रयोग समाज के उस सिद्धान्त के लिए किया जाता है जैसा शुरू के इसाई समाज में पाया जाता था, जहाँ सभी सम्पत्ति सार्वजनिक थी। कभी इसे समाजवाद का पयार्य माना जाता है तो कभी इसे एक ऐसी व्यवस्था माना जाता है जिसमें आवश्यक सामग्रियों का आवश्यकता अनुसार वितरण किया जाता है। अतः साम्यवाद की परिभाषा देना आसान नहीं है। कुछ लोग इसे समाजवाद का पयार्य मानते हैं, जो सही नहीं है, क्योंकि जहाँ सभी साम्यवादी समाजवादी हैं, सभी समाजवादी साम्यवादी नहीं हैं।

सच पूछा जाए तो समाजवाद का ऊपर लिखित कोई अर्थ नहीं है। हम साम्यवाद के उस अर्थ को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं जिसे कार्ल मार्क्स ने ही अपने साम्यवादी घोषणा पत्र (Communist Manifesto) में दिया था। मार्क्स ने वहाँ कहा है, ''साम्यवाद अपने शाब्दिक अर्थ में अवश्य ही एक विधि का सिद्धान्त है। यह उन नियमों को स्थापित करता है जिनके द्वारा पूँजीवाद को समाजवाद में बदला जा सकता है और इसके दो आवश्यक सिद्धान्त हैं- वर्ग-संघर्ष तथा क्रांति या हिंसात्मक ढंग से सर्वहारा (Proletariat) द्वारा सत्ता की प्राप्ति।''

### 18.3.6 उपविषय - साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त

साम्यवाद या वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक हैं- कार्ल मार्क्स जिनके विचारों को मार्क्सवाद के नाम से जाना जाता है और जिसका हमने पहले ही विस्तार से अध्ययन कर लिया है।

मार्क्स के पश्चात् साम्यवाद का विकास - कार्ल मार्क्स के शिष्यों में सबसे प्रसिद्ध लेनिन (Lenin) है जो सोवियत संघ के गणराज्य का संस्थापक था। उन्होंने मार्क्सवाद की व्याख्या बदली हुई परिस्थितियों में नये ढंग से की और कई विषय पर अपने नए विचार प्रकट किए, जो लेनिनवाद के नाम से कहा जाता है।

लेनिन के साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त-

**(1) क्रान्ति का सिद्धान्त** - अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Imperialism : The Highest state of capitalism."

में लेनिन ने कहा कि क्रांति न केवल औद्योगिक दृष्टि से बढ़े हुए देश में होगी, वरन् रूस जैसे कृषि-प्रधान देश में भी हो सकती है। लेनिन ने विस्तारपूर्वक सफल समाजवादी क्रान्ति का आवश्यक कार्यक्रमों की चर्चा भी की।

**(2) साम्राज्यवाद** - लेनिन के अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरम सीमा है। लेनिन ने साम्राज्यवाद की धारणा को पूर्णरूपेण आकार भी दिया। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न देशों में पूँजीवाद का असमान रूप से विकास हुआ है। अतः समाजवाद की भी स्थापना हर देश में असमान रूप में ही हो सकती है। एक ही बार में सम्पूर्ण विश्व में साम्यवाद की स्थापना सम्भव नहीं है।

**(3) किसानों का क्रांति में सहयोग** - लेनिन का कहना है कि रूस में किसानों की अधिक संख्या है और वे मजदूरों के सहयोगी भी हैं, अतः क्रांति में वे सहायक तत्व सिद्ध होंगे।

**(4) युद्ध क्रांति का आवश्यक अंग** - लेनिन का कहना है कि पूँजीवाद राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फैल रहा है, अतः युद्ध फिर महायुद्ध अवश्य होगा।

**(5) शक्ति द्वारा सत्ता की प्राप्ति** - लेनिन का कहना है कि हिंसात्मक क्रांति के द्वारा ही पूँजीवादी राज्य का अन्त हो सकता है और समाजवाद स्थापित हो सकता है।

**(6) सर्वहारा का अधिनायकत्व** - लेनिन के अनुसार क्रांति के पश्चात् सर्वहारा की तानाशाही स्थापित होगी जो वास्तव में साम्यवादी दल की ही तानाशाही होगी।

**(7) लेनिन का पार्टी के बारे में विचार** - लेनिन के अनुसार केवल साम्यवादी दल ही सर्वहारा का नेतृत्व कर सकता है। साम्यवादी पार्टी का संगठन इस प्रकार से होना चाहिए कि पार्टी में बहुत कड़ा अनुशासन रहे।

**(8) लेनिन का राज्य के लोप के बारे में विचार** - लेनिन का विचार था कि जब संसार के सभी पूँजीवादी देशों से राज्य का अन्त हो जाएगा, तभी सोवियत संघ भी अपने राज्य का अन्त करेगा।

**(9) लेनिन की नई आर्थिक नीति** - 1917-21 युद्ध के बाद लेनिन ने नई आर्थिक नीति की घोषणा की जिसमें व्यक्तिगत लाभ के कई उपाय बताए गए।

1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद साम्यवादी दल का नेतृत्व स्टालिन (Stalin) के हाथ में आया। स्टालिन ने साम्यवादी विचारों का विस्तार किया। लेनिन की ही तरह स्टालिन ने भी यह स्वीकार किया कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अंतिम चरण है तथा सम्राज्यवाद के अन्त के साथ ही पूँजीवाद का भी अंत हो जाएगा। मगर ऐसा कभी हुआ नहीं। स्टालिन ने "Socialism in one country" का भी प्रचार किया। 1953 में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् ख्रश्चेव (Kruschew) ने सोवियत साम्यवादी पार्टी पर अपना प्रभाव स्थापित किया।

ख्रश्चेव ने स्टालिन की व्यक्तिगत तानाशाही की घोर निन्दा की तथा उसे anti-Leninist तथा anti-Marxist कहा। ख्रश्चेव का विचार था कि साम्यवाद एक प्रजातांत्रिक देश में शांतिपूर्ण तरीके से स्थापित हो जाएगा।

आधुनिक चीन में क्रांतिकारी गतिविधियाँ Dr. Sun-Yat-Sen के द्वारा आरंभ की गयी जिन्होंने 1911 में तीन प्रमुख सिद्धान्त दिए- राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, लोगों की आजीविका या साम्यवाद (Nationalism, Democracy and People's livelihood or socialism) 1931 तब उनकी गतिविधियाँ रहीं, फिर माओत्से तुंग (Mao-Tse-Tung) ने कार्य भार संभाला। माओत्से तुंग ने चीन में साम्यवादी पार्टी की स्थापना की। माओ का ख्रश्चेव के साथ इस बात को लेकर मतभेद था कि जहाँ ख्रश्चेव ने स्टालिन की आलोचना की, वही माओ के विचार में स्टालिन ने साम्यवाद की बहुत सेवा की।

### 18.3.8 उपविषय : साम्यवादी के दोष

साम्यवाद में निम्नलिखित दोष हैं-

**(1) निरंकुश शक्ति** - जहाँ साम्यवाद एक ओर पूँजीवाद का अन्त करने की बात करता है, वहीं यह मजदूरों को जकड़ लेता है। साम्यवादी नेता इतने शक्तिशाली हो जाते हैं कि फिर शोषण की वही कहानी दोहराई जाती है।

**(2) स्वतंत्रता का ह्रास** - साम्यवादी व्यवस्था में राज्य की कसौटी पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बलि चढ़ाई जाती है।

**(3) धर्म विरोधी** - साम्यवाद केवल भौतिक़वाद को प्रश्रय देता है तथा हर प्रकार के आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों की तरफ से मुँह मोड़ लेता है।

**(4) हिंसात्मक** - साम्यवाद हिंसा तथा वैमनस्य को बढ़ावा देता है और साम्यवादी नेता केवल हिंसा की ही भाषा समझते हैं।

**(5) शब्द या वचन तथा कार्य में अन्तर** - साम्यवादी जो कहते हैं उनका विरोध भी वे कर देते हैं अगर वह उनकी इच्छा के अनुकूल न हो तो।

**(6) गलत सिद्धान्त** - साम्यवादी विचारकों ने विश्व को गलत सिद्धान्तों के द्वारा गुमराह किया जैसे वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त आदि सारे गलत सिद्ध हुए।

**(7) राज्य का लोप नहीं हो रहा है** - राज्य के लोप का भी सिद्धान्त गलत सिद्ध हुआ, क्योंकि साम्यवादी राज्य का लोप नहीं हो रहा है, वरन् वे और भी शक्तिशाली हो रहे हैं।

**(8) साम्यवादी साम्राज्य** - साम्यवादियों का साम्राज्य दिनों-दिन फैलता जा रहा है और लोगों ने अन्य राज्यों पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करना शुरू कर दिया है।

**(9) साम्यवादी प्रभुसत्ता** - साम्यवाद एक ही पार्टी की प्रभुसत्ता स्थापित करना चाहता है।

### 18.3.9 उपविषय : निष्कर्ष

यद्यपि मार्क्सवाद और साम्यवाद में कई दोष निकाले जाते हैं, फिर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि मार्क्सवाद ने उचित समय पर एक ऐसे सिद्धान्त को दिया जिसने विश्व में फैली स्थिति का विरोध किया। हम मार्क्स के विचारों का चाहे कितना भी विरोध क्यों न करें, किन्तु यह तो सच है कि मार्क्स के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण विश्व में क्रांति ला दी थी। नेहरूजी ने भी कहा, "The theory and philosophy of Marxism lightened up many a dark corner of my mind. History came to have a new meaning to me."

इस प्रकार, यद्यपि साम्यवाद या मार्क्सवाद की कड़ी आलोचना की गई है तथापि इन विचारों का जितना प्रभाव संसार पर पड़ा है उतना शायद ही आधुनिक युग में किसी विचार का पड़ा होगा। संसार के विभिन्न देशों में कम से कम एक मार्क्सवादी साम्यवादी दल अवश्य पाया जाता है।

## 18.4 सारांश

मार्क्सवाद अथवा वैज्ञानिक समाजवाद के वास्तविक जन्मदाता कार्ल मार्क्स हैं। मार्क्स ही साम्यवाद के भी प्रवर्तक हैं, मगर साम्यवाद को मार्क्स के बाद लेनिन, स्टालिन, ख्रश्चेव, माओत्से-तुंग आदि ने विकसित किया। मार्क्स का कहना था कि पूँजी अथवा धन कुछ ही लोगों के हाथ में संचित हो जाता है जिन्हें पूँजीपति कहते हैं और वे श्रमिकों का शोषण करते हैं तथा मुनाफे का अधिक भाग स्वयं ही रख लेते हैं। पूँजीवाद के विनाश के लिए तथा सर्वहारा वर्ग के विजय के लिए क्रांति आवश्यक है। अतः मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष तथा क्रांति या हिंसात्मक ढंग से सर्वहारा द्वारा सत्ता की प्राप्ति की बातें करते हैं।

मार्क्स के बाद लेनिन ने कहा कि क्रांति न केवल औद्योगिक दृष्टि से बढ़े हुए देश में होगी, वरन रूस जैसे

कृषि-प्रधान देश में भी हो सकती है। लेनिन ने विस्तारपूर्वक सफल समाजवादी क्रांति के आवश्यक कार्यक्रमों की चर्चा भी की। लेनिन के बाद स्टालिन और ख्रश्चेव ने साम्यवादी विचारों का विस्तार किया। चीन में माओत्से-तुंग ने साम्यवादी पार्टी की स्थापना की। आज संसार के विभिन्न देशों में कम-से-कम एक मार्क्सवादी साम्यवादी दल अवश्य पाया जाता है।

## 18.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

मार्क्सवाद, साम्यवाद, यूटोपियन समाजवाद, वैज्ञानिक समाजवाद, साम्यवादी, घोषणा-पत्र, पूँजीवाद, सर्वहारा, तानाशाही, क्रांति, वर्गविहीन समाज, क्रांतिकारी प्रोग्राम, शोषण, द्वन्द्वात्मक विधि, भौतिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-संघर्ष, वर्गविहीन समाज, श्रमिक वर्ग, शोषित वर्ग, साम्राज्यवाद, लेनिनवाद, नयी आर्थिक नीति, किसान, कृषि प्रधान देश, प्रभुसत्ता।

## 18.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. मार्क्सवाद-

(क) क्रांतिकारी परिवर्तन में विश्वास रखता है

(ख) शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास रखता है

(ग) राजनीतिक परिवर्तन में विश्वास रखता है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

2. साम्यवाद-

(क) समाजवाद का पर्याय नहीं है

(ख) समाजवाद का पर्याय है

(ग) युरोपियन समाजवाद का पर्याय है

(घ) उपर्युक्त में कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

### 6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 3.2)

2. मार्क्सवाद के गुण एवं दोष की व्याख्या करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 3.4 और 3.5)

3. साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 3.7)

### 6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक आदर्श के रूप में मार्क्सवाद की समीक्षा करें।

2. राजनीतिक आदर्श के रूप में साम्यवाद की समीक्षा करें।

## 18.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| (1) | राजनीति सिद्धान्त | – | M. P. Jain |
| (2) | राजनीति शास्त्र के सिद्धान्त | – | A. C. Kapur |
| (3) | Political Theory | – | Eddy Asirvatham |


❖❖❖❖

# राजनीतिक आदर्श : राजतंत्र

पाठ संरचना


19.1 उद्देश्य

19.2 विषय-प्रवेश

19.3 मुख्य विषय - एक राजनीतिक आदर्श के रूप में राजतन्त्र

- 19.3.1 उपविषय - राजतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
- 19.3.2 उपविषय - राजतन्त्र के प्रकार
- 19.3.3 उपविषय - निरंकुश अथवा अवैधानिक राजतन्त्र
- 19.3.4 उपविषय - निरंकुश राजतन्त्र के गुण
- 19.3.5 उपविषय - निरंकुश राजतन्त्र के अवगुण
- 19.3.6 उपविषय - सीमित एवं वैद्यानिक राजतन्त्र
- 19.3.7 उपविषय - सीमित राजतन्त्र के गुण
- 19.3.8 उपविषय - निष्कर्ष

19.4 सारांश

19.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

19.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 19.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 19.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 19.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

19.7 प्रस्तावित पाठ


## 19.1 उद्देश्य

राजतंत्र सरकार के स्वरूप से संबंधित राजनीतिक आदर्श की सबसे प्राचीन रूप है। यह उन्नीसवीं शताब्दी तक संसार के बहुत से देशों में प्रचलित थी। अतः इस पाठ की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह कि हमें सरकार के इस रूप की स्पष्ट धारणा होनी चाहिए। इसी उद्देश्य से हमें राजतन्त्र के अर्थ एवं परिभाषा की चर्चा करनी है। राजतन्त्र के अर्थ एवं परिभाषा को जान लेने के पश्चात् हमें विश्व में प्रचलित राजतन्त्र के विभिन्न रूपों की जाँच करनी है। इसके पश्चात् हमें इस सभी रूपों के गुण एवं दोष की समीक्षा करनी है। अंत में, हमें यह देखना

है कि राजतंत्र का कौन सा रूप आज के इस युग में लोगों को मान्य होगा तथा क्या राजतंत्र को एक आदर्श सरकार का रूप माना जा सकता है।

## 19.2 विषय - प्रवेश

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, राजतंत्र सरकार के स्वरूप से संबंधित राजनीतिक आदर्श की सबसे अधिक प्राचीन रूप है और उन्नीसवीं शताब्दी तक संसार के बहुत से देशों में प्रचलित थी। किन्तु आधुनिक युग की धारा राजतंत्र के विरूद्ध है। राजतंत्र में, सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का स्रोत एक सर्वोच्च शासक को माना जाता है। सरकार के सभी तंत्र इसी सर्वोच्च शासक के अधीन है।

राजतंत्र की संस्था इतिहास की उपज है तथा यह राज्य के विकास का ही एक अंश है। राज्य के विकास के प्रथम चरण में राजतांत्रिक व्यवस्था को अत्यन्त ही उपयोगी माना जाता था। चूंकि राजतंत्र में एक ही शासक के हाथ में राज्य की बागडोर होती है अतः उद्देश्य की एकता, शक्ति और मजबूती जैसे लक्षण देखने को मिलते हैं। राजा ही कानून का निर्माता होता है, न्यायधीश भी वही है, वही कार्यपालिका भी है, सेनाध्यक्ष भी वही है। राजा अपनी व्यक्तिगत शक्ति से समाज को एकजुट रखता है अन्यथा समाज टुकड़ों में बँट जाता।

आरंभ में, राजा का चुनाव होता था और उसके बाद यह संस्था पैतृक हो गयी और अब जहाँ भी राजतंत्र है वहाँ इसका स्वरूप सामान्य है। आरंभ में रोमन राजाओं का चुनाव होता था। मध्यकालीन युग के राजा निर्वाचित तथा पैतृक दोनों ही होते थें। पैतृक राजा आजीवन शासन करता था और उसकी मृत्यु के बाद उसकी सत्ता उसके उत्तराधिकारी को वंशानुक्रम के रूप में प्राप्त हो जाती थी। चूँकि शासन एक ही व्यक्ति के हाथ में होता था और उसकी व्यक्तिगत इच्छा स्थायी रूप से प्रभावशाली होती थी, अतः वह निरंकुश राजा हो जाता था।

बीसवीं शताब्दी में धीरे-धीरे राजतंत्र का लोप होने लगा, चूँकि लोगों को प्रजातंत्र अधिक पसंद आने लगा।

## 19.3 मुख्य विषय : एक राजनीतिक आदर्श के रूप में राजतंत्र

एक राजनीतिक आदर्श के रूप में राजतंत्र को लोगों ने उन्नीसवीं शताब्दी तक सराहा और उन्नीसवीं शताब्दी तक यह संसार के बहुत से देशों में भी प्रचलित रहा। उस समय लोगों का यह विचार था कि असभ्य तथा बर्बर लोगों को अनुशासित करने के लिए निरंकुश राजतंत्र से अच्छी दूसरी सरकार नहीं हो सकती है।

लोगों का यह विचार था कि चूंकि राजा में ही कार्यपालिका, न्यायपालिका, सेना आदि की सारी शक्तियाँ केन्द्रित थीं अतः राज्य के संचालन में एकरूपता आती है। इससे शासन में एकता और कार्यकुशलता आती है। चूँकि अन्तिम शक्ति राजा के हाथों में रहती है, अतः संकटकालीन अवस्था में अपने मंत्रियों के साथ परामर्श कर शीघ्र निर्णय कर सकता है। चूंकि राज्य स्वयं अपने मंत्रियों का चुनाव करता है, अतः वह सबसे बुद्धिमान एवं कार्यकुशल व्यक्ति को अपना सलाहकार बनाता है।

मगर यह भी विचार गलत नहीं है कि कोई अकेला व्यक्ति निरंकुश शक्ति का उपयोग करे। राजा जब निरंकुश हो जाता है तो वह लोगों का शोषण करने लगता है, उनपर अत्याचार करने लगता है। यदि यह मान भी लिया जाए कि राजतंत्र सरकार एक अच्छा रूप है, आधुनिक युग राजतंत्र को उपयोगी नहीं मान सकता है। चूंकि आधुनिक युग प्रजातंत्र का युग है तथा लोग स्वायत्त शासन के पक्ष में हैं।

### 3.1 उपविषय - राजतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा

राजतंत्र को अंग्रेजी में "Monarchy" कहते हैं जो दो शब्दों के मेल से बना है- 'Monas' जिसका अर्थ है ''एक'' और "Archy" जिसका अर्थ है तंत्र। इसलिए राजतंत्र शासन का वह रूप है जिसमें राज्य का सर्वोच्च प्राधिकार एक व्यक्ति के हाथ में हो। शासन के सभी अंग उस व्यक्ति की निरंकुश तथा स्वतंत्र इच्छा के अधीन रहते हैं। उसके अधिकार असीमित है। यह व्यक्ति राजा (Monarch) कहलाता है। राजा शासन का सर्वेसर्वा है।

उसी के एजेन्ट हैं और वे राजा की ही इच्छा का पालन करते हैं। उसकी इच्छा ही अन्तिम इच्छा होती है। वह जो चाहे कर सकता है। उसके आदेश कानून बन जाते हैं जो उसके एजेन्ट के द्वारा लागू किए जाते हैं। सर्वोच्च अधिकारी होने के कारण, उसकी सत्ता भी सर्वोच्च, असीम तथा स्वः निर्धारित होती है। राजा की शक्ति पर कोई रोक नहीं होती है। उसकी इच्छा लोगों की भी इच्छा होती है। राजतंत्र का आधार दैवी अधिकार सिद्धान्त माना जाता है। निरंकुश राजतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण फ्रांस में लुई चौदहवाँ (Louis XIV) का शासन है। लुई चौदहवाँ का कहना था, "I am the government and what I say goes." इंगलैंड के जेम्स प्रथम का शासन भी इसका उदाहरण है।

कुछ समय पहले तक पूर्व तथा पश्चिमी देशों में निरंकुश राजतंत्र मिस्र, रोम, ईरान, चीन इत्यादि में प्रचलित था। भारत में दुर्योधन, जरासंघ, कंस, अजातशत्रु, नन्द वंश के राजा निरंकुश थे। मध्यकाल में तुर्क और मुगल शासक भी भारत में निरंकुश थे। जापान में भी इस प्रकार का शासन था। मगर बाद में उन लोगों ने सरकार के पुराने रूप का अंत कर, नयी सरकार की स्थापना की।

फ्रांस में 1789 ई० की क्रांति से पूर्व अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में तुर्की (Turkey) तथा रूस (Russia) में निरंकुश राजतंत्र थे। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रशा (Prussia Germany) आस्ट्रिया तथा हंगरी भी कुछ हद तक निरंकुश राजतंत्र ही थे। आज इथोपिया, जोर्डन, अफगानिस्तान, ईरान और नेपाल में कुछ हद तक निरंकुश राजतंत्र ही है।

### 3.4 उपविषय - निरंकुश राजतंत्र के गुण

निरंकुश राजतंत्र के समर्थकों के अनुसार इसके निम्नलिखित गुण हैं-

**(1) असभ्य तथा अविकसित जातियों के लिए उपयोगी** - प्राचीनकाल में मनुष्य असभ्य तथा जंगली थें। उनमें किसी प्रकार का अनुशासन नहीं था। इसलिए उस युग में राजतंत्र ही एक ऐसा सर्वोत्तम साधन था जिसके द्वारा लोगों में अनुशासन की भावना जागृत की जा सकती थी। A. C. Kapur का कहना है, "Perhaps, there could have been no better form of government than absolute monarchy for disceplining the uncouth and the uncivilized people who had emerged out of barbarism."

मिल ने भी कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट करते हुए कहा है कि निरंकुश शासन ही वैध ढंग या पद्धति है जिसके द्वारा असभ्य तथा जंगली लोगों से निबटा जा सकता है और इसी पद्धति से उनका सुधार भी किया जा सकता है।

**(2) देश की सर्वांगीण उन्नति सम्भव है** - ह्यूम ने लिखा है, "अच्छे राजतंत्र में सम्पत्ति सुरक्षित रहती है, उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन मिलता है, कला की उन्नति होती है और राजा-प्रजा के साथ इस तरह रहता है जैसे बाप-बच्चों के साथ। यदि राजा अच्छा हो तो लोगों के लाभ के लिए बहुत कुछ कर सकता है। भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, विक्रमादित्य तथा हर्ष ने भारत की बहुत उन्नति की। प्रशा में फ्रेडरिक महान, फ्रांस में नेपोलियन बोनापार्ट, रूस में पीटर महान तथा कैथराइन ने अपनी प्रजा की उन्नति के लिए महान कार्य किया।

**(3) शीघ्र निर्णय** - शीघ्र निर्णय, विचारों की सहमति, आदि संकटकालीन अवस्था में तथा अच्छे शासन के लिए आवश्यक है। राजतंत्र में अन्तिम शक्ति एक व्यक्ति के हाथ में रहती है, अतः संकटकालीन अवस्था में वह अपने मंत्रियों से परामर्श करने के पश्चात् शीघ्र निर्णय कर सकता है।

**(4) युद्ध में बुद्धिमान राजा अच्छा नेतृत्व कर सकता है** - यदि राजा बुद्धिमान तथा वीर हो तो वह युद्ध में लोगों का अच्छा संचालन कर सकता है और देश की रक्षा कर सकता है। जैसे- चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत की सेल्युकस के आक्रमण से रक्षा की।

**(5) अनुभव** - चूँकि राजा अपने पद पर आजीवन रहता है, इसलिए वह बहुत अनुभवी हो जाता है और अपने अनुभव से देश को बहुत लाभ पहुँचा सकता है। जैसे-अकबर ने अपने लम्बे शासन-काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की घृणा दूरकर उनमें सद्भाव उत्पन्न करने की कोशिश की।

**(6) नीति में एकरूपता तथा सरकार में स्थिरता** - चूँकि राजा अपने पद पर आजीवन रहता है, इसलिए वह लम्बे समय तक अच्छी नीति का पालन कर सकता है जिससे सरकार में स्थिरता उत्पन्न हो सकती है।

**(7) सामाजिक न्याय में सहायक** - राजा किसी दल से अपना संबंध नहीं रखता है, अतः वह निष्पक्ष होकर देश का शासन करता है।

**(8) इससे शासन में एकता और कार्य-कुशलता आती है** - जब राजा योग्य एवं बुद्धिमान मंत्रियों को नियुक्त करता है तो दृढ़तापूर्वक शासन चलता है। चूँकि सारे शासन पर अन्तिम नियंत्रण राजा का होता है तो शासन में एकता और कार्य-कुशलता आती है।

**(9) लोगों की जागरीदारों के अत्याचारों से रक्षा** - इंगलैंड में ट्यूडर वंश के राजाओं ने और रूस में जार अलेक्जेण्डर द्वितीय ने अपनी प्रजा और किसानों की जागीरदारों के अत्याचारों से रक्षा की।

(10) चूँकि राजा आजीवन अपने पद पर बना रहता है अतः शासन में तथा नीति में एकरूपता बनी रहती है।

इस प्रकार, निरंकुश राजतंत्र के उपर्युक्त गुण हैं।

### 3.5 उप विषय - निरंकुश राजतंत्र की हानियाँ अथवा अवगुण

**(i) राजतंत्र प्रायः अत्याचारी शासन में बदल जाता है** - राजतंत्र में चूँकि राजा ही सर्वेसर्वा होता है और सारी शक्ति उसी के हाथ में केन्द्रित होती है, अतः कुछ समय के पश्चात् वह पथभ्रष्ट हो जाता है और जनता का शोषण करने लगता है। इस तरह देश में अत्याचारी शासन स्थापित हो जाता है।

**(ii) धर्मान्ध तथा अयोग्य राजा सारे देश की अवनति का कारण बन सकता है**- यदि किसी देश में राज्य की बागडोर अयोग्य राजा के हाथ में आ जाय तो देश की अवनति निश्चित है। उदाहरणस्वरूप औरंगजेब ने धर्मान्ध होने के कारण सारे देश में धार्मिक झगड़े उत्पन्न कर दिए और मुगल साम्राज्य को जड़ से ही हिला दिया।

**(iii) राजा के मुखिया का पैतृक पद न्यायसंगत नहीं है** - राजा के पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिए जो सबसे योग्य अथवा बुद्धिमान हो। यदि राज्य के मुखिया का पद पैतृक होगा तो चाहे राजा योग्य हो अथवा अयोग्य, उसे ही पद मिलेगा, जो ठीक नहीं है।

**(iv) राजतंत्र में लोकतंत्र अथवा स्वराज्य के लिए स्थान नहीं रहता है**- राजतंत्र से राज्य की सारी शक्तियाँ राजा के ही हाथ में केन्द्रित रहती हैं। जनता को देश की शासन-व्यवस्था के संचालन में हाथ बँटाने का कोई अवसर नहीं मिलता है। इससे लोगों के विकास रूक जाते हैं। इस प्रकार, राजतंत्र में लोकतंत्र अथवा स्वराज्य के लिए स्थान नहीं रहता है।

**(v) राजतंत्र में आर्थिक असमानता उत्पन्न हो जाती है** - राजतंत्र में राजा, मंत्री तथा शासक वर्ग के लोगों के पास तो अत्यधिक धन रहता है। परन्तु, साधारण जनता की दशा ठीक नहीं रहती है। जहाँ राजा इत्यादि दिन-प्रतिदिन धन-दौलत एवं ऐशो-आराम को भोगते हैं, वहीं जनता गरीबी का सामना करती है।

**(vi) राजतंत्र में लोकतंत्र अथव स्वराज्य के लिये स्थान नहीं रहता है** - राजतंत्र में राज्य की सारी शक्तियाँ राजा के ही हाथ में केन्द्रित रहती हैं। जनता को देश की शासन-व्यवस्था के संचालन में हाथ बँटाने का कोई अवसर नहीं मिलता है। इससे लोगों के विकास रूक जाते हैं। इस प्रकार, राजतंत्र में लोकतंत्र अथवा स्वराज्य के लिए स्थान ही नहीं रहता है।

इस प्रकार, निरंकुश राजतंत्र में कई अवगुण भी हैं। निरंकुश राजतंत्र के गुण और अवगुण देखने के पश्चात् हम सीमित राजतंत्र का परीक्षण करेंगे।

### 3.6 उपविषय - सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र

निरंकुश राजतंत्र में जनता को शासन के संचालन एवं नियंत्रण में कोई भाग नहीं मिलता है। अतः मध्यकाल

एवं आधुनिक काल में कई देशों में इसके विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। कई देशों में राजा एवं जनता के बीच लम्बा संघर्ष भी चला जिसके फलस्वरूप सीमित राजतंत्र की स्थापना हुई।

इंगलैंड में भी जनता एवं राजा के बीच लम्बा संघर्ष चला और 1688 ई० की क्रांति के पश्चात् वहाँ सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। इंगलैंड के अतिरिक्त आजकल सीमित राजतंत्र जापान, नार्वे, स्वीडन, मलाया, डेनमार्क और हॉलैंड में पाया जाता है।

इस प्रकार, सीमित राजतंत्र सरकार का वह रूप है जिसमें राजा की सत्ता अथवा शक्तियाँ या तो संविधान में लिखित आदेशों के द्वारा या फिर कुछ मौलिक रिवाजों के द्वारा सीमित होती हैं। कभी-कभी तो संविधान राजा के द्वारा ही लागू होता है तो कभी किसी सफल क्रांति के द्वारा स्थापित किया जाता है।

अतः जब राज्य की सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति के हाथ में हो पर उस सत्ता का संचालन प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा हो तो उसे वैधानिक या सीमित राजतंत्र कहा जाता है। विधानतः सभी शक्तियाँ राजा में ही निहित रहती हैं पर व्यवहार में उसका प्रयोग जनता के प्रतिनिधियों के द्वारा होता है। उसी के नाम पर शासन का सारा कार्य होता है पर वास्तविक शक्त जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में होती है। राजा की शक्तियां संविधान द्वारा प्रतिबन्धित तथा नियन्त्रित रहती हैं।

राजतंत्र का यह रूप गणतन्त्र के बहुत समीप है। इंगलैंड का वर्तमान शासन इसी का उदाहरण है।

### 3.7 उपविषय - सीमित राजतंत्र के गुण

(1) सीमित राजतंत्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें लोकतंत्र पूर्णरूप से सुरक्षित रहता है। जैसा कि Bagehot का कहना है, "The king or Queen in Britain, has the right to be consulted, the right to encourage and the right to warn; beyond this he or she cannot go."

सीमित राजतंत्र में राजा के पास नाम-मात्र की शंक्तियाँ होती हैं। वह राज्य का नाम-मात्र का मुखिया (Nominal Head) होता है। वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिमंडल के पास होती हैं जो संसद की तरफ जिम्मेदार होता है। इस प्रकार, सीमित, सीमित राजतंत्र में जनता के प्रतिनिधि शासन के संचालन में पूर्ण रूप से भाग लेते हैं।

(ii) इसमें राजा किसी दल से संबंधित नहीं रहता है। चूंकि राजा किसी भी दल से संबंधित नहीं रहता है, अतः वह निष्पक्ष रूप से मंत्रीमंडल को सलाह दे सकता है। इस प्रकार, राजा एक Umpire की तरह राजनीति के खेल को विरोधी पार्टियों द्वारा खेलते हुए देखता है और उसका प्रमुख उद्देश्य यह देखना है कि राजनीति का यह खेल नियमानुसार खेला जा रहा है अथवा नहीं।

(iii) इंगलैंड में सीमित राजतंत्र का सबसे बड़ा गुण है राजा के पद पर आजीवन रहना। आजीवन राजा के पद पर रहने के कारण राजा अनुभवी तथा कुशल राजनीतिज्ञ हो जाता है और मंत्रीमण्डल को उचित एवं बुद्धिमान सलाह दे सकता है।

(iv) राजा का अपने देश में बहुत आदर एवं सम्मान होता है। इंगलैंड में राजा या महारानी को समाज का तथा चर्च का अध्यक्ष माना जाता है। वह राष्ट्रमण्डल का मुखिया भी होता है। वह मंत्रीमण्डल का निष्पक्ष सलाहकार भी है। महारानी विक्टोरिया तथा एडवर्ड सप्तम ने अपने अनुभव से देश को विशेष लाभ पहुँचाया। वहाँ के राजा को व्यवहार में केवल चार शक्तियाँ प्राप्त हैं- मंत्रियों को सलाह, चेतावनी और प्रोत्साहन देने तथा प्रशासन के संबंध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार है।

इस प्रकार, इंगलैंड में पूर्ण लोकतंत्र है और राजा के पास नाम-मात्र की शक्तियाँ हैं। इंगलैंड में राजतंत्र एक उपयोगी संस्था मानी जाती है। यही स्थिति जापान, बेल्जियम, स्वीडन, नार्वे, होलैंड तथा मलाया में हैं।

(v) सीमित राजतंत्र का एक यह भी गुण है कि इसमें राजा पर अधिक खर्च नहीं होता है और वह संसद के अधिनियमों द्वारा संचालित होता है।

इस प्रकार, सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र को एक उपयोगी संस्था माना जाता है तथा सरकार का एक आदर्श रूप माना जा सकता है।

### 3.8 उपविषय : निष्कर्ष

निरंकुश राजतंत्र के गुणों और अवगुणों के अवलोकन के बाद हमने सीमित राजतंत्र का अध्ययन किया। साथ ही साथ हमने सीमित राजतंत्र के गुणों को भी देखा। अतः हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चूँकि निरंकुश राजतंत्र में जनता को शासन के संचालन एवं नियंत्रण में कोई भाग नहीं मिलता है, अतः निरंकुश राजतंत्र किसी को भी मान्य नहीं होगा। वैसे भी निरंकुश राजतंत्र संसार में बिल्कुल गायब ही हो गया है। चूंकि सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र में लोकतंत्र पूर्णरूप से सुरक्षित रहता है, अतः आज भी यह संसार के कई देशों में वर्त्तमान है।

## 19.4 सारांश

राजतंत्र की संस्था इतिहास की उपज है तथा राज्य के विकास के साथ ही इसका भी विकास हुआ है। राज्य के विकास के प्रथम चरण में राजतंत्र को एक उपयोगी संस्था माना जाता था चूँकि इससे शासन में एकरूपता, शीघ्र निर्णय, कम खर्चीला होना, आदि गुण देखे जाते थे। राजा राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी था। वही कानून का निर्माता, कानून का रक्षक, कार्यपालिका, न्यायपालिका, सेना अध्यक्ष आदि सब कुछ था। इस प्रकार वह अपनी व्यक्तिगत शक्ति से सम्पूर्ण समाज एवं राज्य को संगठित रखता है।

निरंकुश राजतंत्र में सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में होती थी, जिसे राजा कहते थे। राजा की शक्ति या इच्छा पर कोई कानूनी बन्धन नहीं था। राजा के अधिकार असीमित थे। चूँकि राजा की इच्छा पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं था, अतः वह अधिनायकवादी (Dictator irdespotic) हो जाता था।

अतः मध्यकाल तथा आधुनिक काल में कई देशों में इसके विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई। राजा और जनता के बीच लम्बे संघर्ष के फलस्वरूप सीमित राजतंत्र की स्थापना हुई। सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र में राज्य की सर्वोच्च सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में होती है जिसे राजा कहते हैं मगर उसका संचालन प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा होता है।

चूँकि राजा संविधान के नियमों द्वारा प्रतिबन्धित रहता है अतः इसे सीमित अथवा वैधानिक राजतंत्र भी कहते हैं। सीमित राजतंत्र में राजा के पास नाम-मात्र की शक्तियाँ होती हैं। वह राज्य का नाममात्र का मुखिया होता है। वास्तविक शक्तियाँ मंत्रिमंडल के पास होती है जो संसद की तरफ से जिम्मेदार होता है।

अतः जहाँ निरंकुश राजतंत्र का नामोनिशान मिट गया है, सीमित राजतंत्र आज भी कुछ देशों में जीवित है।

## 11.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

राजतंत्र, राजा, निरकुंश, राजनीतिक सत्ता, सर्वोच्च शक्ति, प्रजातंत्र, सर्वोच्च सत्ता, उत्तराधिकार, पैतृक, असभ्य और बर्बर जातियाँ, सरकार, सीमित, वैधानिक, शासन-प्रणाली, निर्वाचन, सर्वांगीण उन्नति, अनुशासन, प्रोत्साहन, संकटकालीन अवस्था, नेतृत्व, संचालन, परामर्श, निष्पक्ष, स्थिरता, कार्य कुशलता, एकता, धर्मान्ध, अवनति, न्यायसंगत, मुखिया, अत्याचारी, अनुभव, मंत्रीमंडल, आर्थिक समानता, वास्तविक शक्तियाँ, प्रतिनिधियों, अधिनियमों, राजनीतिज्ञ, नाममात्र, खर्च, उपयोगी।

## 19.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 19.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. राजतंत्र में राज्य की सर्वोच्च सत्ता-

(क) राजा के हाथ में होती है

(ख) राष्ट्रपति के हाथ में होती है

(ग) मंत्रिमंडल के हाथ में होती है

(घ) संसद के हाथ होती है।

**उत्तर (क)**

2. इनमें से राजतंत्र का कौन सा रूप आज सी पाया जाता है

(क) निरंकुश राजतंत्र

(ख) सीमित राजतंत्र

(ग) निर्वाचित राजतंत्र

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर (ख)**

### 19.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. निरंकुश राजतंत्र के गुण एवं दोष की समीक्षा करें।

(उत्तर : देखें उपविषय 3.4 और 3.5)

2. सीमित राजतंत्र के गुणों की चर्चा करें।

(उत्तर देखें उपविषय 3.7)

### 19.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एक राजनीतिक आदर्श के रूप में राजतंत्र की समीक्षा करें।

2. राजतंत्र किसे कहते हैं ? राजतंत्र के विभिन्न रूपों की समीक्षा करें।

## 19.7 प्रस्तावित पाठ

(1) राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त – ए० सी० कपूर

(2) प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – अशोक कुमार वर्मा

❖❖❖❖

# अराजकतावाद

पाठ संरचना

20.1 उद्देश्य
20.2 विषय – प्रवेश
20.3 मुख्य विषय – समाज दर्शन के स्वरूप की व्याख्या
20.3.1 उपविषय – समाज दर्शन की परिभाषा
20.3.2 उपविषय – समाज दर्शन के प्रमुख लक्षण
20.3.3 उपविषय – समाज दर्शन की समस्याएँ एवं क्षेत्र
20.3.4 उपविषय – समाज दर्शन का मूल्य
20.3.5 उपविषय – निष्कर्ष
20.4 सारांश
20.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द
20.6 अभ्यास के लिए प्रश्न
20.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
20.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
20.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
20.7 प्रस्तावित पाठ

## 20.1 उद्देश्य

अराजकतावाद एक राजनीतिक आदर्श है जिसके अनुसार किसी रूप में राजनीतिक सत्ता अनावश्यक तथा अवांछनीय है। अतः इस पाठ की चर्चा के पीछे जो हमारा प्रमुख उद्देश्य है वह यह कि अराजकतावादी दर्शन की एक स्पष्ट धारणा हमें मिले। इसके लिए हमें सर्वप्रथम अराजकतावाद की परिभाषा देनी होगी। इसके बाद हमें अराजकतावाद के विभिन्न सम्प्रदायों, उसके विभिन्न समर्थकों के विचारों की विवेचना करनी है। फिर हम अराजकतावाद के प्रमुख लक्षणों की चर्चा करेंगे। हम अराजकवादियों के द्वारा अपनाए गए उन विभिन्न विधियों की भी चर्चा करेंगे जिसके द्वारा वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते हैं। फिर हम यह भी देखेंगे कि वे किस प्रकार के समाज का गठन करना चाहते हैं और उस समाज की स्थापना वे कैसे करेंगे। अंत में, हम अराजकतावाद के विरूद्ध लगाए गए आक्षेपों की भी समीक्षा करेंगे।

फिर हम अराजकतावाद के विषय में अपने विचार निष्कर्ष के रूप में देंगे।

## 20.2 विषय प्रवेश

अराजकतावादी दर्शन का विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ तथा यह आदर्शवादी दर्शन का पूर्ण विरोधी दर्शन था। आदर्शवादी विचारक राज्य की महत्ता पर जोर देते थें किन्तु अराजकतावादी राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानते थें। उनके अनुसार राज्य व्यक्ति के विकास में अवरोधक है।

इस प्रकार, अराजकतावाद का प्रमुख विचार यह था कि राजनीतिक सत्ता चाहे वह किसी भी रूप में हो अनावश्यक तथा अवांछनीय है। इनके अनुसार राज्य शक्ति का साकार रूप है और यह अपनी शक्ति का प्रदर्शन अपनी सरकार के द्वारा करता है। अराजकवादियों के अनुसार ''स्वतंत्रता'' सर्वोच्च है और इस स्वतंत्रता की प्राप्ति तभी हो सकती है जब राज्य और उसकी संस्थाओं को समाप्त कर दिया जाए ताकि व्यक्तियों पर शक्ति का प्रयोग करने वाली कोई संस्था न रहे।

''The liberty of man, '' says Bakunim, (One of the anavchists) ''Consists solely in this, that he obeys the laws of Nature, because he has himself recognised them as such, and not because they have been imposed upon him externally by any foreign will, whatsoever, human or divine, collective or individual.''

इस प्रकार, अराजकतावादी राज्य का पूर्ण विरोध करते हैं और उन सभी संस्थाओं का भी विरोध करते हैं जो शक्ति का प्रतीक है।

इस अर्थ में अराजकतावाद कोई नया सिद्धांत नहीं है। प्राचीन काल में जापान में Stoic सम्प्रदाय के कुछ लोग राज्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। मध्यकालीन युग में भी, विभिन्न धार्मिक संस्थाओं ने राज्य के द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों का विरोध किया था। कई कवियों तथा दार्शनिकों ने भी राज्य की उत्पीड़क शक्ति के विरूद्ध चर्चा की थी।

कार्ल मार्क्स के नेतृत्व में समाजवादियों ने भी राज्य तथा उसके यंत्रों को शोषण का साधन माना है। इसके अतिरिक्त, अराजकतावाद का विकास इंगलैंड, अमेरिका, फ्रांस तथा रूस में भी हुआ।

## 20.3 मुख्य विषय : एक राजनीतिक आदर्श के रूप में अराजकतावाद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है अराजकतावादी राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानते हैं जो कि व्यक्ति के विकास में अवरोधक होता है। अतः वे राज्य तथा उसकी सभी संस्थाओं को अन्त करने की बात करते हैं। वे एक नए समाज की स्थापना चाहते हैं जिसमें जाति, धर्म, रंग, वर्ग, राष्ट्रीयता के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं किया जाएगा। इन परिस्थितियों में रहने वाले लोगों को किसी भी सरकार के अधीन रहने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।

चूँकि किसी भी प्रकार की राजनीतिक सत्ता नहीं होगी, अतः सभी लोगों को काम करने का तथा काम के फलों को भोगने का सामान अधिकार मिलेगा। निजी सम्पत्ति का अंत हो जाएगा तथा पूँजीवाद का भी खात्मा हो जाएगा। उत्पादन के साधनों का सामान्य स्वामित्व होगा और उत्पीड़न की जगह सहयोग से काम चलेगा।

इस प्रकार, एक आदर्श के रूप में तो अराजकतावाद प्रशंसनीय लगता है किन्तु यह कहाँ तक व्यावहारिक है, इसे हम बाद में देखेंगे।

### 20.3.1 उपविषय : ''अराजकतावाद'' की परिभाषा

अराजकतावाद के प्रमुख समर्थक क्रोपोटकिन (KropotKin) के अनुसार, ''अराजकतावाद जीवन तथा आचरण के उस सिद्धांत को कहते हैं जिसके अधीन राज्य-विहीन समाज की कल्पना की जाती है। इस समाज में किसी

कानून या सत्ता के आदेशों के पालन से नहीं बल्कि उत्पादन तथा खपत और एक सभ्य-प्रणाली की अनेक प्रकार की आवश्यकताओं व आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए स्वतंत्र रूप से संगठित, विभिन्न प्रादेशिक तथा व्यावसायिक समुदायों के ऐच्छिक तथा स्वतंत्र समझौते से उत्पन्न सामञ्जस्य द्वारा ही व्यवस्था बनाई जायगी।

एफ० डब्लू० कोकर के अनुसार, ''अराजकतावाद वह सिद्धांत है जिसके अनुसार राजनीतिक सत्ता प्रत्येक रूप में अनावश्यक है।''

हक्सले के अनुसार, ''अराजकतावाद वह समाज है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक हो।''

जी० डी० एच० कोल के शब्दों में, ''एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में अराजकतावाद समाज के सामाजिक संगठन से उन सब रूपों के पूर्ण विरोध से जारी होता है जो बाध्यकारी सत्ता पर आधारित होते हैं। एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद का अभिप्राय उस स्वतंत्र समाज से है जिसमें से बाध्यकारी तत्वों का लोप हो चुका है।''

ऊपर लिखी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अराजकतावाद राज्य तथा सरकार का पूर्ण विरोधी है। अराजकतावाद हर प्रकार की सत्ता-चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक हो-के विरूद्ध एक क्रांति है। अराजकतावाद के लक्ष्य हैं- मनुष्य की राजनीतिक शोषण से मुक्ति दिलाना, पूँजीवादियों के आर्थिक उत्पड़ीन से मुक्ति दिलाना तथा नैतिक रूप से चर्च तथा पुजारियों के शोषण से मुक्ति दिलना।

### 20.3.2 उपविषय : अराजकतावाद के समर्थक

अराजकतावादियों में दो वर्ग हैं-

(i) दार्शनिक अराजकतावादी जो मूख्य रूप से विद्वानों का संगठन था तथा जो वाद-विवाद एवं प्रचार (Propaganda) के द्वारा लोगों को राज्य की अनावश्यकता के बारे में बताते थें तथा अराजकतावाद की स्थापना की महत्ता पर बल देते थें।

(ii) क्रांतिकारी अराजकतावादी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों को अपनाने के लिए भी तैयार रहते थें।

**(i) दार्शनिक अराजकतावादी (Philosophical Anarchists)**- यद्यपि अराजकतावाद के तत्व प्राचीन यूनान के दार्शनिक जैनो (Zano) की विचारधारा में पाए जाते हैं, परन्तु अराजकतावाद का गम्भीर चिन्तन आधुनिक विचारक विलियम गोडविन (William Godwin) से आरंभ होता है। उसका विचार था कि यदि पूँजीवाद और मनुष्य के शोषण का अंत कर दिया जाए, तो मनुष्य आपस में प्रेम से रहेंगे। दूसरे दार्शनिक अराजकतावादी हैं-थोमस होडस्किन (Thomas Hodgskin), जोसेफ प्रोंधा (Goseph Proudhon), ट्रूकर (Trucker), हेनरी थोरियो (Henry Thoreau) एवं टालस्टाय (Tolstoi)।

प्रोंधा राज्य के विरूद्ध था चूँकि राज्य निजी सम्पत्ति की व्यवस्था से ही विकसीत हुआ था। इसके अतिरिक्त राज्य ही समाज में असमानता लाने के लिए जिम्मेदार है। प्रोंधा का कहना है, ''Government of man by man in every form is oppression. The highest perfection in any society is found in the union and anarchy.''

प्रोंधा ही 'anarchy' (अराजकता) पद का रचयिता था और उसके समर्थकों ने अराजकतावादी सिद्धांत की स्थापना की।

सभी दार्शनिक अराजकतावादी अहिंसात्मक तरीके से राज्य तथा सरकार के अंत करने की शिक्षा देते हैं।

**(ii) क्रांतिकारी अराजकतावादी (Revolutionary Anarchists)**- सबसे प्रसिद्ध क्रांतिकारी अराजकतावादी हैं-माइकिल बाकुनिन तथा प्रिंस क्रोप्टकिन (Michael Bakunin and Prince Kropotkin) जिस अर्थ में मार्क्स को

वैज्ञानिक समाजवाद का जन्मदाता माना जाता है उसी प्रकार बाकुनिन को वैज्ञानिक अराजकतावाद का जन्मदाता माना जाता है।

बाकुनिन का यह विचार था कि निजी सम्पत्ति, राज्य तथा धर्म, आदि संस्थाएँ सभी बुराइयां है क्योंकि ये लोगों को अपमानित करती हैं तथा उनके नैतिक पतन का करण हैं। अतः इनका अंत होना आवश्यक है। राज्य का कोई भी रूप वास्तव में तानाशाही और शोषण का ही रूप है। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था भी राज्य के अस्तित्व का आधार है तथा राज्य का ही परिणाम भी है। संसार के लाखों मजदूरों के लिए यह आर्थिक निर्भरता, कठोर परिश्रम, अज्ञान तथा समाजिक और आध्यात्मिक निश्चलता लाता है। कुछ अमीरों के लिए जहाँ यह सारे सुख-सुविधाओं की व्यवस्था करता है, वहीं गरीबों का केवल शोषण करता है। बाकुनिन ने धर्म को भी एक बुराई माना। वह ईश्वर की धारणा का भी विरोधी था। इस प्रकार बाकुनिन ने उन सभी संस्थाओं तथा उन सभी विश्वासों की घोर आलोचना की जो मनुष्य की स्वतंत्रता का विरोध करते थे।

प्रिंस क्रोप्टकिन भी नवीन अराजकतावाद की वैज्ञानिक व्याख्या करते थे। उन्होंने अपने सिद्धांतों को विकासवादी एवं ऐतिहासिक आधार दिया।

उनके अनुसार मानव समाज की प्रगति में तीन बाधक हैं-राज्य, सम्पत्ति और धर्मो कोप्टकिन का कहना था कि राज्य का ऐसा स्वभाव ही है कि वह मनुष्य की सहयोगी प्रकृति का विरोधी है। वह निजी सम्पत्ति की भी आलोचना करते हुए कहते हैं कि उत्पादन साक्षात अथवा असाक्षात रूप में सभी व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग का नतीजा है। बाकुनिन की तरह ही क्रोप्टकिन भी वैज्ञानिक तथा नैतिक आधार पर राज्य, सम्पत्ति तथा धर्म का विरोध करते हैं।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ये हिंसात्मक साधन (revolutionary methods) भी अपनाने के लिए तैयार थे।

कुछ विचारकों के अनुसार, राज्य एक बुरी संस्था है क्योंकि इसके द्वारा लोगों का विकास संभव नहीं है। अतः राज्य की समाप्ति आवश्यक है। ये ईश्वर और निजी सम्पत्ति के विचार का भी खंडन करते हैं। इसके अनुसार तोड़-फोड़ तथा हिंसा के द्वारा ही अराजकतावादी समाज की स्थापना हो सकती है।

### 20.3.3 उपविषय : अराजकतावाद के प्रमुख लक्षण

अराजकतावाद एक ऐसे स्वतंत्र समाज की स्थापना करना चाहता है जो सहयोग पर आधारित होगा। अराजकतावाद हर प्रकार की सत्ता का अन्त करना चाहता है चाहे वह राज्य का हो या सरकार का, या चर्च या पूँजीवादियों का हो। अराजकतावाद का अर्थ है कि राज्य अथवा सरकार किसी रूप में भी न रहे। अराजकतावाद के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं-

**(i) राज्य का विरोध**- अराजकतावाद राज्य का पूर्ण रूप से विरोध करता है। वह राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानते हैं। (The state is an unnecessary evil) इनके अनुसार राज्य की सत्ता न वांछनीय है और न ही आवश्यक। वे कहते हैं- ''The state has only one function and that function is to sign its own death warrant and then to die.'' पुलिस, जेल, कचहरी, आदि समाज की बुराइयों को रोकते नहीं वरन् बढ़ाते हैं। कानून जो राज्य का हथियार है, वह भी बुरा है। लोग मजबूरी वश कानून को मानते हैं। अतः राज्य की सत्ता, शक्ति, भय और दबाव पर आधारित है। अतः यदि मनुष्य की अच्छाइयों को उभारना हो तो राज्य का लोप होना आवश्यक है।

इस प्रकार, अराजकतावादी राज्य का पूर्ण विरोध करते हैं। वे राज्य की निंदा करते हुए कहते हैं कि राज्य पूँजीवादी संस्था है और इसका आधार शक्ति है। यह सदैव पूँजीवादियों का पक्ष लेता रहा है। इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट होती है। जोसेफ प्रोधों का कहना है, ''मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा शासन किसी भी रूप में अत्याचार है। समाज का सबसे अधिक निर्दोष एवं उच्चतम रूप सुव्यवस्था तथा अराजकता के मेल से ही हो सकता है।'' इनका कहना है कि राज्य द्वारा स्थापित कानून-व्यवस्था, पुलिस, न्यायालय, सभी राज्य के उपकरण हैं जिनके द्वारा समाज के लोगों का शोषण ही होता है। अतः ये राज्य की समाप्ति करना चाहते हैं ताकि सब लोग प्रेम से रहेंगे और किसी का भी शोषण नहीं होगा। राज्य के स्थान पर ऐच्छिक संस्थाएँ बनानी चाहिए जो परस्पर सहयोग से सारे कार्य चलाएंगी।

**(ii) पूँजीवाद तथा निजी सम्पत्ति का विरोध**– अराजकतावादी निजी सम्पत्ति की कटु आलोचना करते हैं और कहते हैं कि पूँजीवाद सेही निजी सम्पत्ति का विकास होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरों का शोषण होता है। सम्पत्ति एक बुराई है क्योंकि इसके द्वारा आर्थिक असमानता उत्पन्न होती है, देश का अधिकतर धन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में इकट्ठा होकर रह जाता है तथा अधिकतर जनता भूखी मरती है।

अतः पूँजीवाद तथा निजी सम्पत्ति का अन्त हो जाना चाहिए।

**(iii) धर्म तथा चर्च का विरोध**– अराजकतावादी धर्म तथा चर्च की निन्दा करते हैं। उनका कहना है कि चर्च हमेशा अमीरों का साथी रहा है। चर्च तथा धर्म ने हमेशा गरीबों को गुमराह किया है तथा उन्हें अपनी दुर्दशा के साथ समझौता करने की शिक्षा दी है। अतः धर्म बुराई का ही एक कारण है। इस प्रकार, अराजकतावादी धर्म का भी विरोध करते हैं।

**(iv) राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना**– अराजकतावादी एक राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। वे एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते हैं जो भाईचारा एवं सहयोग पर आधारित हो। ऐसे समाज में स्वतंत्र संस्थाएँ बनाई जाएंगी जो ऐच्छिक समझौते पर आधारित होंगी। जो व्यक्ति समाज की तरह अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करेंगे, उनका बहिष्कार होगा। झगड़े ऐच्छिक न्यायलयों द्वारा सुलझाए जाएंगे। झगड़े काफी कम हो जाएंगे क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था की बुराइयाँ दूर जो जाएंगी और समाज में उचित शिक्षा फैलाई जायेगी। आर्थिक दृष्टि से यह नई व्यवस्था एक पूर्ण साम्यवाद की होगी।

इस प्रकार, राज्य की समाप्ति के बाद समाज की ऊपर वर्णित व्यवस्था की कल्पना क्रोप्टकिन, बाकुनिन आदि ने की है; हाँलाकि सभी अराजकतावादी राज्य की समाप्ति के बाद के समाज के संगठन के विषय में एकमत नहीं हैं।

### 20.3.4 उपविषय : अराजकतावाद की विधियाँ

बाकुनिन तथा क्रोप्टकिन के अनुसार अराजकतावाद के लक्ष्य की प्राप्ति क्रांति तथा विकास (revolution and evolution) दोनों के द्वारा ही हो सकती है। किन्तु, क्रोप्टिकिन के अनुसार विकास का अन्त क्रांति में होना चाहिए। किसी एक देश से क्रांति शुरू होकर सम्पूर्ण यूरोप की क्रांति बन जाएगी। शुरू के चरण में क्रांति हिंसात्मक तथा विनाशक होगी। सार्वजनिक संस्थाएँ, किले, जेल, आदि सभी का विनाश हो जाएगा, सारे सरकारी अफसरों को उनके पद से निकाल दिया जाएगा, सेना को भंग कर दिया जाएगा, पुलिस तथा सरकारी अफसरों को सेवामुक्त कर दिया जाएगा, इत्यादि।

राज्य तथा राज्य की सत्ताकी समाप्ति के बाद निजी सम्पत्ति का अंत करने के लिए किसान जमीदारों से अपनी जमीन वापस लेगें, मजदूर फैक्टूरी के मालिकों को निकाल बाहर करेंगे ताकि एक नए समाज का गठन हो सके जो परस्पर सहयोग पर आधारित होगा।

### 20.3.5 उपविषय : अराजकतावादी समाज का संगठन

क्रोप्टकिन अराजकतावादी समाज के संगठन की स्पष्ट रूप से व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार राज्य की समाप्ति के बाद जाति, रंग, धर्म, राष्ट्रीयता, आदि का भेद मिट जाएगा और एक राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी। प्रत्येक व्यक्ति को काम करने की स्वतंत्रता होगी तथा अपने कर्म के फल को भी वह भोग सकेगा। "A complex interveaving of associations with order everywhere and compulsion nowhere, forms the stuff of which an Anarchist society will be formed." स्थानीय संस्थाएँ आपस में मिलकर प्रादेशिक संस्था बन जाएंगी।

जहाँ तक अराजकतावादी समाज के आर्थिक संगठन का प्रश्न है, वहाँ पूर्ण साम्यवाद होगा। सम्पूर्ण जमीन तथा उत्पादन के सभी साधनों पर सामाजिक स्वामित्व होगा। उत्पादन को मजदूर आपस में अपनी आवश्यकतानुसार बाँट लेंगे। जब लोगों को परस्पर सहयोग से जीने का ढंग मिल जाएगा, जब अमीर और गरीब का भेद मिट जाएगा, तब राज्य के संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी और कहीं कोई संघर्ष और असामंजस्य नहीं रहेगा।

### 20.3.6 उपविषय : अराजकतावादी दर्शन की आलोचना

अराजकतावाद की निम्नलिखित आलोचना हुई है–

(i) आलोचकों का कहना है कि अराजकतावादियों ने जिस प्रकाार के अराजकतावादी समाज की स्थापना करनी चाही है, वह संभव नहीं है। यह बिल्कुल ही अव्यावहारिक धारणा है कि राज्य की समाप्ति के बाद ऐच्छिक संस्थाओं द्वारा कार्य किए जाएंगे। अराजकतावादियों का यह कथन है कि राज्य वीहिन और वर्ग-वीहिन समाज में सब अपराध बन्द हो जाएंगे और सारे कार्य सहयोग के आधार पर चलेंगे, परन्तु ऐसी बात व्यावहारिक प्रतीत नहीं होती है। सत्ता किसी भी रूप में आवश्यक है। सत्ता विहीन समाज में केवल हंगामा और गड़बड़ी ही रहेगी तथा वहाँ जंगल के नियम की स्थापना हो जाएगी। इस प्रकार, राज्य का अन्त करने के बारे में अराजकतावादियों की योजना व्यावहारिक नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसल ने इस विषय में कहा है, "कम से कम आज के वर्त्तमान समय में आज के अराजकतावादी समाज का आदर्श, उसमें व्यक्ति के किसी भी कार्य पर कोई कानूनी नियंत्रण न हो, उस प्रकार के संसार की रक्षा के लिए अनुपयुक्त ही है जिसकी स्थापना अराजकतावादी करना चाहते हैं। राज्य की त्रुटियों के विषय में, इसकी क्षमता के विषय में और इसकी शक्ति के दुरूपयोग के विषय में आलोचना के रूप में कुछ भी कहा जाए, सभ्य मनुष्य के लिए किसी भी रूप में यह निरपेक्ष आवश्यकता रहा है और रहेगा।

(ii) अराजकतावाद ने राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानकर इसकी कड़ी आलोचना की है। किन्तु, यह बिल्कुल गलत है क्योंकि आधुनिक काल में राज्य एक कल्याणकारी संस्था (Welfare State) बन गई है।

(iii) अराजकतावाद मनुष्य की अच्छी प्रकृति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करते हैं। बहुत से मनुष्य स्वार्थी होते हैं और सामाजिक हितों का ध्यान नहीं रखते हैं।

(iv) अधकितर अराजकतावादी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाने के पक्ष में हैं जो उचित नहीं है।

(v) अराजकतावादियों का कथन है कि राज्य और पूँजीवाद की समाप्ति के पश्चात् अपराध कम हो जाएंगे, यह बिल्कुल गलत है। जहाँ भी पूँजीवादी व्यवस्था समाप्त हो गई हैं, वहाँ भी अपराध पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ है।

(vi) आलोचकों का कहना है कि अराजकतावादियों ने स्वतंत्रता की धारणा पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि स्वतंत्रता केवल एक साधन है, न कि अपने आप में एक लक्ष्य। यद्यपि वे कहते हैं कि स्वतंत्रता और सत्ता आपस में विरोधी हैं, वे इस बात को भूल जाते हैं कि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अगर राज्य का अंत हो जाएगा तो हर जगह गड़बड़ी और अनुशासनहीनता फैल जाएगी। इस प्रकार, सत्ता के अभाव में स्वतंत्रता की कल्पना नहीं की जा सकती है। अगर यह कहना कि सभी प्रकार के राज्यों में व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हनन होता है, यह गलत है। लोकतंत्र में व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतंत्रता मिलती है।

(vii) अराजकतावादियों का यह कथन कि राज्य का प्रत्येक कानून कुछ ही मनुष्यों के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाया जाता है, यह भी गलत है। आधुनिक काल में बहुत से कानून मजदूरों की भलाई के लिए भी बनाए जाते हैं।

(viii) अराजकतावादियों का यह कहना कि राज्य नैतिक मूल्यों की हत्या करता है तथा राज्य में मनुष्यों का नैतिक पतन होता है, यह गलत है। संसार में बहुत से राज्य इस बात का खंडन करते हैं। कई राज्यों में मनुष्यों का नैतिक विकास हुआ है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

(ix) राज्य की समाप्ति के बाद कई नई समस्याएँ उत्पन्न होंगी जिन्हें सुलझाना और भी अधिक कठिन होगा।

अत: यह कहा जा सकता है कि अराजकतावादी समाज की स्थापना असंभव है। यह केवल एक काल्पनिक विचार है। अराजकतावादी यथार्थ की कल्पना करते हैं। जब तक मनुष्यों के अन्दर कुप्रवृत्तियाँ वर्त्तमान हैं तब तक ऐसे समाज की कल्पना करना व्यर्थ है।

(x) श्रमिक संघवाद, साम्यवाद, आदि की भाँति अराजकतावाद उन्माद (Fanaticism) हिंसा, द्वेष, आदि को फैलाते हैं तथा उनके साधन भी हिंसात्मक हैं। यह बहुत ही आश्चर्यजनक बात है कि अराजकतावादी हिंसा तथा तोड़-फोड़ की सहायता से एक राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जो प्रेम एवं भाईचार पर आधारित है।

### 20.3.7 उपविषय : निष्कर्ष

इस प्रकार, एक राजनीतिक आदर्श के रूप में अराजकतावाद में कई त्रुटियाँ पाई जाती हैं तथा इसे बहुत ही अव्यावहारिक माना गया है। परन्तु, फिर भी इसका अपना मूल्य है। अराजकतावादियों का राज्य, सरकार पूँजीवादियों तथा धर्म के विरूद्ध जो आक्षेप है, वे निराधार नहीं हैं। अराजकतावाद की यह भी देन है कि इसने राजनीति के केन्द्रीयकरण के खतरों से हमें अवगत कराया। शक्ति का विकेन्द्रीयकरण होना चाहिए तथा लोकतंत्रीय व्यवस्था कायम होनी चाहिए।

यद्यपि एक आन्दोलन के रूप में अराजकतावाद करीब-करीब समाप्त हो चुका है, किन्तु एक दर्शन के रूप में आज भी कई लोगों की प्रेरणा का स्रोत है।

## 20.4 सारांश

इस प्रकार, एक राजनीतिक आदर्श के रूप में अराजकतावाद सभी प्रकार की सत्ता का विरोध करता है, चाहे वह राज्य की सत्ता हो या पूँजीवाद की सत्ता। अराजकतावादी इन बुराइयों को दूर करने के लिए शक्ति का भी प्रयोग करने के लिए तैयार हैं। वे राज्य तथा निजी सम्पत्ति का अन्त करने की बात करते हैं। वे सबों के लिए ''स्वतंत्रता और समानता'' की प्राप्ति करना चाहते हैं। वे राज्य और सरकार के स्थान पर ऐच्छिक संस्थाओं की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ परस्पर सहयोग के आधार पर कांम हो।

यद्यपि एक आदर्श के रूप में अराजकतावाद उचित लगता है तथा प्रशंसनीय भी है किन्तु इस व्यावहारिकता में लागू करना अत्यन्त ही कठिन है। किन्तु, एक दर्शन के रूप में आज भी यह कई लोगों की प्रेरणा का स्रोत है।

## 20.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

अराजकतावाद, अराजकतावादी, आदर्शवादी, राज्य, बुराई, समाप्ति, अवांछनीय, निजी सम्पत्ति, दार्शनिक अराजकतावादी, अदार्शनिक अराजकतावादी, विलियम गोडविन, जोसेफ प्रोंधा, माइकल बाकुनिन, क्रोप्टकिन, क्रांति, तोड़-फोड़, पूँजवाद, सहयोगी संस्था, ऐच्छिक संस्थाएँ, परस्पर सहयोग, राज्यविहीन तथा वर्ग-विहीन समाज, संगठन, अत्याचार सुव्यवस्था, भाईचारा, सहायोग, साम्यवाद, केन्द्रीयकरण, लोकतंत्रीय, उन्माद, विकेन्द्रीयकरण।

## 20.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 20.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. अराजकतावाद राज्य को

(क) एक बुराई मानते हैं

(ख) एक आशीर्वाद मानते हैं

(ग) आवश्यक मानते हैं

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

2. अराजकतावाद -

(क) निजी सम्पत्ति तथा पूँजीवाद को मानते हैं

(ख) निजी सम्पत्ति तथा पूँजीवाद का विरोध करते हैं

(ग) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 20.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अराजकतावाद के प्रमुख लक्षणों की चर्चा करें।

(उत्तर - उपविषय 20.3.3)

2. अराजकतावादियों के दो वर्ग कौन-कौन से हैं? टिप्पणी करें।

### 20.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एक राजनीतिक आदर्श के रूप में अराजकतावाद की समीक्षा करें।

2. क्या अराजकतावाद एक व्यावहारिक आदर्श है? टिप्पणी करें।

## 20.7 प्रस्तावित पाठ


1. राजनीति शास्त्र के सिद्धांत – A.C. Kapur

2. प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – A.K. Verma


❖❖❖❖

# सर्वोदय

पाठ संरचना


21.1 उद्देश्य

21.2 विषय-प्रवेश

21.3 मुख्य विषय - 'सर्वोदय' की महत्ता

- 21.3.1 उपविषय - 'सर्वोदय' के विचार का विकास
- 21.3.2 उपविषय - सर्वोदय, साम्यवाद एवं उपयोगितावाद में भेद
- 21.3.3 उपविषय - सर्वोदयी समाज के प्रमुख लक्षण
- 21.3.4 उपविषय - समाज का परिवर्तन
- 21.3.5 उपविषय - सर्वोदय की समीक्षा
- 21.3.6 उपविषय - निष्कर्ष

21.4 सारांश

21.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द

21.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

- 21.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
- 21.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
- 21.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

21.7 प्रस्तावित पाठ


## 21.1 उद्देश्य

'सर्वोदय'का आदर्श भारत की ओर से विचार जगत को एक विशिष्ट देन है। 'सर्वोदय' शब्द गाँधीजी के द्वारा दिया गया है। यह शब्द भले ही नया हो, पर उसका अर्थ भारतीय संस्कृति के लिए नवीन नहीं है। सैकड़ों वर्षो से भारतीय ऋषिगण इसी विचार को तो दोहराते आए हैं। महात्मा गाँधी भी तो एक आध्यात्मिक सन्त थे जिन्होंने मानव-मात्र की सेवा के लिए सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। सर्वोदय उनके लिए जीवन का एक दर्शन या वृति ही नहीं, व्यवहार की एक नीति भी है।

अत: 'सर्वोदय' के विचार की गहराई से अध्ययन करना है। इसी उद्देश्य से सर्वप्रथम हम सर्वोदय के अर्थ एवं परिभाषा को देखेंगें। फिर 'सर्वोदय' विचार के विकास की चर्चा करेंगे। इसके पश्चात् हम सर्वोदय, साम्यवाद एवं उपयोगितावाद में अन्तर

का अध्ययन करेंगे। इसके बाद हम सर्वोदय समाज की विशेषताओं का वर्णन करेंगे। फिर हम समाज के परिवर्तन को देखेंगे कि सर्वोदय समाज की स्थापना के लिए किन आन्दोलनों का सहारा लिया गया इसके बाद 'सर्वोदय' का मूल्यांकन करेंगे।

अन्त में हम निष्कर्ष के रूप में सर्वोदय पर अपने विचार देंगे।

## 21.2 विषय प्रवेश

'सर्वोदय' गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत समाज का एक आदर्श है। 'सर्वोदय' शब्द भले नया हो, पर उसका अर्थ भारतीय संस्कृति के लिए नया नहीं है। हजारों वर्षो से भारतीय ऋषिगण अपनी तपः पूत वाणी में यह संदेश देते रहे हैं-

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भ्रदाणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुखभाग्भवेत्ए ।।

अर्थात् संसार के समस्त लोग सुखी हों। सब निष्कपट, निर्लोभ एवं निःस्वार्थ हों। सब लोग दूसरों को सज्जन समझें तथा किसी को कभी भी किसी प्रकार का दुःख न हो। यही सर्वोदय का आदर्श है। गीता के ''सर्वभूत हितेरताः'' का तात्पर्य भी सर्वोदय ही है। जैनाचार्य संमतभद्र ने भी कहा है-''सर्वापदा मन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिंद तदैव''।

इस प्रकार, सर्वोदय का विचार भारतीय संस्कृति में सदैव से ही निहित रहा है। मगर विधिवत् रूप से इसे एक आधुनिक विचारधारा का रूप प्रदान करने का कार्य बीसवीं सदी में प्रमुख मनीषी महात्मा गाँधी के द्वारा किया गया और यह विचार जगत को मूल रूप में महात्मा गाँधी की ही देन है।

महात्मा गाँधी मूल रूप से कोई राजनीतिक विचारक अथवा राजनीतिक क्रांतिकारी नहीं थे। वे एक आध्यात्मिक संत थे, मानवतावादी दार्शनिक थे, धार्मिक प्रवृति के मनुष्य थे, मगर एक कर्मठ एवं व्यवहारवादी व्यक्ति थे। मानव-मात्र की सेवा के लिए ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। सर्वोदय उनके लिए जीवन का एक दर्शन या वृत्ति ही नहीं, बल्कि व्यवहार की नीति भी है।

सर्वोदय विचारधारा भारत की ओर से विचार जगत को एक विशिष्ट देन है और सर्वोदयी विचारकों में विनोबा भावे, जयप्रकाश नारायण, काका कालेलकर, शंकरराव देव, दादा धर्माधिकारी, सिद्धराज डड्ढा और ठाकुरदास बंग के नाम प्रमुख रूप से लिए जा सकते हैं।

## 21.3 मुख्य विषय : सर्वोदय का महत्त्व

सर्वोदय समाज के संगठन का तथा समाज में रहने वाले लोगों के जीवन का आदर्श है। सर्वोदय समाज एक आदर्श समाज होगा जिसमें कोई भी शोषित नहीं रहेगा। यह एक ऐसा समाज होगा जहाँ ''प्यार अथवा प्रेम का साम्राज्य होगा तथा सहयोग की भावना व्याप्त होगी।''

गाँधीजी ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जो प्रेम, सहयोग तथा सर्वकल्याण की भावनाओं पर आधारित हो।'' सर्वोदय राष्ट्रीय एकता और समानता पर आधारित है।

इस प्रकार, सर्वोदय का महत्त्व अमूल्य है। एक आदर्श के रूप में यह महान है, पर इसे व्यवहार में कहाँ तक लागू किया जा सकता है, इसे हम बाद में देखेंगे। पहले हम सर्वोदय के अर्थ एवं परिभाषा, इसके प्रमुख लक्षण, आदि की चर्चा करेंगे।

### 21.3.1 उपविषय : 'सर्वोदय' का अर्थ एवं परिभाषा

'सर्वोदय' दो शब्दों के मेल से बना है-''सर्व'' और ''उदय'' अर्थात् सबका उदय, सबका उत्कर्ष या विकास। अतः सर्वोदय का अर्थ है-एक साथ सबका समान रूप से उदय होना।

गाँधीजी ने सर्वप्रथम ''सर्वोदय'' शब्द का सामाजिक व्यवस्था के रूप में उपयोग किया तथा उसकी व्याख्या की। वे जॉन रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक ''अन्टू दिस लास्ट'' से अत्यधिक प्रभावित थें। गाँधीजी ने इस पुस्तक का ''सर्वोदय'' शीर्षक से गुजराती भाषा में अनुवाद किया तथा 'सर्वोदय' के लिए तीन प्रमुख बातों पर बल दिया–

(क) सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है,

(ख) एक नाई का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि एक वकील का, क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपने परिश्रम एवं योग्यता से आजीविका कमाने का पूर्ण अधिकार है, तथा

(ग) शारीरिक श्रम करनेवाले का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट जीवन है। इस प्रकार, पहली बात में ही दूसरी और तीसरी बात सन्निहित है। सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। अत: सबका हित सबका हित, सबका उदय अपेक्षित है। इस प्रकार, ''सर्वोदय'' का अर्थ सबका कल्याण है, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। इसी आधार पर गाँधीजी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायी एवं सहकर्मी विनोबा भावे ने उस विचार का विस्तार किया है तथा अपने विविध कार्यक्रमों के द्वारा उसको मूर्त रूप दे रहे हैं।

विनोबा भावे ने सर्वोदय के अर्थ को समझाते हुए कहा है, ''सर्वोदय कुछ का या बहुत का या अधिकतम का उत्थान नहीं चाहता। हम अधिकतम के अधिकतम सुख से संतुष्ट नहीं हैं। हम तो केवल एक की और सबकी, ऊँचे और नीचे की, सबल और निर्बल की, बुद्धिमान तथा बुद्धिहीन की भलाई से संतुष्ट हो सकते हैं। सर्वोदय शब्द इस उत्कृष्ट और सर्वव्यापक भावना को अभिव्यक्त करता है।

शकरराव देव ने सर्वोदय के आदर्श को इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''अहिंसा और सत्य के आधार पर स्थापित वर्ग-विहीन और जाति-विहीन तथा जिसमें किसी का, कोई भी शोषण नहीं कर सकता और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह को अपने सर्वांगीण विकास करने के अवसर और साधन प्राप्त हो सके। ऐसे समाज की स्थापना करना सर्वोदयी समाज का साध्य है।''

### 21.3.2 उपविषय : सर्वोदय के विचार का विकास

25 दिसम्बर, 1975 को पवनार आश्रम में आयोजित ''सर्वोदय सम्मेलन'' में 'सर्वोदय' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विनोबा भावे ने कहा–

(क) जाति रहित और वर्ग रहित समाज की स्थापना।

(ख) सार्वजनिक क्षेत्र में स्वच्छ और कुशल प्रशासन।

(ग) सामाजिक व्यवस्था का आधार विकेन्द्रीयकरण।

(घ) समस्त शक्ति जनता को प्राप्त होना।

(ङ) अधिकारी वर्ग द्वारा अपने को जनता का स्वामी नहीं, सेवक समझना।

इस प्रकार सर्वोदय समाज एक ऐसा समाज होगा जहाँ सबको पूर्ण स्वतंत्रता होगी, जहाँ सबमें समानता होगी। जहाँ कोई जाति या वर्ग नहीं होगा, जहाँ कोई शोषण या अन्याय नहीं होगा, जहाँ मनुष्य को उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्रदान किया जाएगा। 'मनुष्य' इस समाज का केन्द्र बिन्दु होगा। सर्वोदय का 'सर्व' केवल संख्यात्मक नहीं, गुणात्मक भी है। यहाँ सर्वांगीण विकास का अर्थ आत्मपूर्णता की प्राप्ति है। मनुष्य में अनेक क्षमताएँ या सामर्थ्य हैं। उन क्षमताओं के अपनी मर्यादा के अनुसार पूर्ण विकास का विचार भी सर्व विकास में निहित है। अत: 'सर्व' शब्द की व्यापकता परिमाण और गुण दोनों का सूचक है।

सबके जीवन को सम्पन्न बनाना या जीवन को सर्वत्र सम्पन्न बनाना, शारीरिक और आध्यात्मिक सम्पन्नता का आदर्श ही सर्वोदय है। सर्वोदय समाज एक आदर्श समाज है।

### 21.3.3 उपविषय : सर्वोदय, साम्यवाद और उपयोगितावाद में भेद

एक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वोदय और साम्यवाद में समानता है। दोनों का लक्ष्य अथवा आदर्श एक समान है। मगर यह उचित नहीं है। सर्वोदय और साम्यवाद के बीच आदर्श अथवा लक्ष्य एवं क्रांति की प्रक्रिया दोनों ही दृष्टियों से बहुत बड़ा अन्तर है। सर्वोदय का लक्ष्य समाज के सभी वर्गो एवं व्यक्तियों का समान कल्याण है, किन्तु साम्यवाद तथा इससे प्रभावित संघवाद और श्रेणी समाजवाद का लक्ष्य एक वर्ग-विशेष का कल्याण ही है। साम्यवाद पूँजीपतियों तथा बुर्जुआ तत्वों से घृणा करती है लेकिन सर्वोदय सभी वर्गो का-धनी, मध्यम तथा निर्धन वर्ग का कल्याण चाहता है। साम्यवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित-अनुचित, हिंसक-अहिंसक सभी प्रकार के साधनों को ठीक समझता है, किन्तु सर्वोदय सत्य तथा अहिंसा के माध्यम से सर्वोदय समाज की स्थापना करना चाहता है।

सर्वोदय उपयोगितावादी समाज से भी आगे है। उपयोगितावादी दार्शनिक जैसे मिल और बेन्थम जहाँ ''अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की बात'' करते हैं, वहाँ सर्वोदय सबके सुख की कामना करता है। उपयोगितावाद का लक्ष्य सबके लिए भौतिक सुख की प्राप्ति करना है लेकिन सर्वोदय सभी का मानसिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख चाहता है।

सर्वोदय के सम्बन्ध में श्री कुमारप्पा ने लिखा है, ''सभी के कल्याण के रूप में सर्वोदय, गाँधीजी के अनुसार, आदर्श सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। इसका आधार सभी के लिए प्रेम है। इसमें बिना किसी अपवाद के सभी के लिए स्थान है। चाहे वह किसी भी धर्म का या जाति का हो। इस सामाजिक व्यवस्था में सभी समान रूप से भागीदर होंगे; सभी अपने श्रम का उपयोग करेंगे। सबल-निर्बलों की रक्षा और उनके संरेक्षक के रूप में कार्य करेंगे और सभी सबके कल्याण का कार्य करेंगे।

इसी प्रकार, हेगेल के ''जीने के लिए मरो''(Die to live) वाली उक्ति में भी अपनी आहुति अपने जीने के लिए मानी गई, पर सर्वोदय की उक्ति है, ''अन्य को जिलाने के लिए मरो'' (Die for others)।

इस प्रकार, सर्वोदय का आदर्श सबसे उत्कृष्ट है।

### 20.3.4 उपविषय : सर्वोदय के आदर्श समाज की विशेषताएँ

गाँधीजी द्वारा सर्वोदय की भावना का सूत्रपात किया गया। उनकी इस भावना को कार्यरूप में परिणत करने तथा सर्वोदय समाज-व्यवस्था पर विचार करने की दृष्टि से 'सर्वोदय आर्थिक सम्मेलन' का आयोजन किया गया। उसमें सर्वोदय समाज के कुछ आदर्श निश्चित किए गए जिन्हें कार्यान्वित करने का भार गाँधीजी के सच्चे अनुयायी आचार्य विनोबा भावे ने लिया। आचार्य विनाबा भावे ने सर्वोदय समाज के तीन प्रमुख लक्षणों की चर्चा की और कहा कि जहाँ भी ये तीनों लक्षण पाए जाएंगे, वहीं सर्वोदय की सामाजिक व्यवस्था कायम हो जाएगी। ये तीनों लक्षण मौलिक हैं और इन्हें साथ-साथ रहना चाहिए तथा साथ-ही-साथ कार्यान्वित भी होना चाहिए। ये आदर्श निम्नलिखित हैं-

(क) समाज में शुभ विचार के आदर्श के अतिरिक्त और कोई शक्ति प्रचलित न हो।

(ख) व्यक्ति के सारे सुख समाज की ओर उन्मुख हों और समाज व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का अवसर प्रदान करे।

(ग) ईमानदारी से मनुष्य द्वारा किए गए सभी कर्मो का आर्थिक, सामाजिक और नैतिक मूल्य समान होगा।

इसी आधार पर सर्वोदय समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की गयी हैं-

1. सर्वोदय का लक्ष्य एक ऐसे राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है जो सब प्रकार की सत्ता से मुक्त हो तथा जिसमें व्यक्ति का किसी भी प्रकार से शोषण न हो यहां शासक और शासित एक हीं होंगे। इस प्रकार सर्वोदय राज्य और सरकार दोनों का विरोध करता है चूँकि दोनों ही शोषण का कारण हैं। यहाँ तक कि वे ''कल्याणकारी राज्य'' के पक्ष में भी नहीं हैं। ''The welfare state, says Jayaprakash Narayan, '' in the name of welfare

threatens as much to enslave man to the state as in the totalitarion state. The human society must, therefore, be free from all coereive institutions'' मगर इसका अर्थ नहीं है कि एकाएक राज्य का लोप हो जाए। ''What we seek'' विनोबा भावे कहते हैं, ''is to grow out of the state of affairs where there is no government, into one where there is good govement and from that condition to one, where people are free of government altogether.''

सर्वोदय समाज में एकदम राज्य और सरकार का विनाश नहीं होगा, बल्कि धीर-धीरे ही होगा। समाज अच्छी सरकार से सरकार विहीन समाज की ओर बढ़ेगा।

2. सर्वोदय समाज के समर्थक प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र (Representative Democracy) के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि ऐसे लोकतंत्र में राजनीतिक दल (Political Parties) होते हैं जो बहुत गलत बातें फैलाते हैं। दलीय पद्धति के कारण ही लोकतंत्र ने समाज को तानाशाही शासन भी दिए हैं। दलबन्दी के कारण दल के सदस्यों का पतन हो जाता है तथा पारस्परिक विद्वेष बढ़ जाता है। गाँधीजी वर्तमान संसदीय व्यवस्था को बाँझ स्त्री के समान मानते थे, जो समाज को कुछ भी देने से असमर्थ है।

सर्वोदय का उद्देश्य दलीय व्यवस्था को समाप्त कर निर्दलीय व्यवस्था के आधार पर सच्चे लोकतंत्र की स्थापना करना है। इसके लिए आचार्य विनोबा भावे ने ग्रामपंचायतों के दलीय स्वरूप को समाप्त कर, उन्हें शक्तिशाली बनाने तथा बहुमत के स्थान पर सर्वसम्मत निर्णय के सिद्धांत को अपनाने की दलील दी। इस प्रकार, सर्वोदय नेता लोकतंत्र के स्थान पर ग्रामराज्य की स्थापना करना चाहते हैं। विनोबा भावे लिखते हैं कि ग्रामों के झगड़े गाँवों में ही निपटाये जायेंगे। फिर यह राज्य रामराज (Kingdom of God) हो जाएगा और फिर कोई भी झगड़े नहीं होंगे तथा हम सब एक कुटुम्ब के समान रहेंगे।

3. सर्वोदय का लक्ष्य राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) करना भी है। राजनीतिक विकेन्द्रीकरण से सर्वोदय का तात्पर्य है स्थानीय संस्थाओं को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाना तथा स्वायत्त शासन की स्थापना करना है।

आर्थिक विकेन्द्रीकरण से सर्वोदय का अर्थ उत्पादन के साधनों पर स्वयं उत्पादकों का अधिकार हो। जैसे-भूमि पर जो खेती करे, उसी का अधिकार उस पर रहना चाहिए। सर्वोदयी समाज-व्यवस्था में मुनाफे अथवा ब्याज की प्रवृत्ति का अन्त होकर सभी कार्य जनसेवा की भावना से तथा सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर किए जाएंगे।

सर्वोदय का आधारभूत नियम है– प्रत्येक अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कार्य करे तथा आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करे (उससे अधिक नहीं)।

इस प्रकार, सर्वोदय समाज स्वचालित एवं स्वनियंत्रित समाज होगा। समाज चाहे वह गाँव का हो या शहर का छोटे-छोटे समुदायों में बँटा होगा। ऐसे समाज में जीवन आपसी सहयोग और प्रेम पर आधारित होगा। ऐसे समाज में शक्ति के प्रयोग का कोई आधार नहीं होगा। अगर किसी भी प्रकार की शक्ति का प्रयोग किया भी जाएगा तो वह होगी 'प्रेम की शक्ति'। चारो ओर स्वतंत्रता और समानता का साम्राज्य होगा। तब प्रजातंत्र साक्षात् रूप में लागू होगा क्योंकि लोग छोट-छोटे समुदाय में रहने लगंगे और स्वयं अपना शासन नियंत्रित करने के योग्य हो जाएंगे।

सर्वोदय समाज में रहनेवाले व्यक्ति आपस में प्रेम के द्वारा बँधे होंगे तथा प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के लिए जीएगा। गाँधीजी के अनुसार समाज एक परिवार के समान है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध परस्पर निर्भरता का सम्बन्ध है।

इसलिए सर्वोदय की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ''यह व्यक्तिवाद एवं समाजवाद का समन्वय है जो सबके कल्याण की कामना करता है।''

### 21.3.5 उपविषय : समाज का परिवर्तन

सर्वोदय का राज्यविहीन तथा जाति विहीन समाज एकाएक तो स्थापित नहीं हो सकता है। सर्वोदय समाज की

स्थापना के लिए जिन आन्दोलनों का सहारा लिया गया है, वे हैं– ''भूदान आन्दोलन'' ''सम्पत्ति दान'' तथा ग्राम दान और ग्राम-राज्य।''

**(i) भूदान आन्दोलन** - इस के प्रवर्तक आचार्य विनोबा भावे हैं जिन्होंने भूदान-यज्ञ का आरंभ करते हुए कहा था कि, ''व्यक्तियों के द्वारा यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि समस्त भूमि ईश्वर की है। अगर समस्त भूमि पर सामाजिक स्वामित्व हो तो सारा असन्तोष ही दूर हो जाए और प्रेम एवं सहयोग के युग का आरम्भ हो सकेगा। मैं चाहता हूँ कि व्यक्तियों के द्वारा प्रारंभ में अपनी भूमि का कुछ भाग दान किया जाय। इसके साथ ही उन्हें दूसरों की सेवा के कार्य में लग जाना चाहिए।

भूदान के पीछे जो विचारधाराएँ थीं, वे निम्नलिखित हैं–

(क) भूदान का यह विश्वास है कि समस्त भूमि ईश्वर की है और मानव इसके प्रन्यासी के रूप में ही कार्य करते हैं।

(ख) भूदान का समस्त सिद्धांत न्याय एवं समानता पर आधारित है।

(ग) भूदान एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म देता है। भूदान व्यक्तियों की संग्रह, स्वामित्व एवं अहं की प्रवृत्ति को दूर करके उनका हृदय परिवर्तन करता है।

(घ) भूदान ही सच्चे अर्थो में आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचा बदल सकता है।

**(ii) सम्पत्ति दान**– सम्पत्ति दान को भूदान के पूरक के रूप में देखा जा सकता है। इसका उपयोग, बीज, खाद्य तथा पशुधन खरीदने के हेतु किया जाता है। भूमिहीनों को भूमि के साथ इन वस्तुओं की उपलब्धि कराना भी नितांत आवश्यक है।

**(iii) ग्रामदान**– ग्रामदान का अर्थ है किसी गाँव के सभी भूस्वामी अपनी भूमि को पूरे ग्राम समाज को अर्पित कर दें तथा पूरा गाँव सहकारिता के आधार पर उस भूमि पर उत्पादन करे और उपज आपस में बाँट लें। जब ग्रामदान होगा, तब भूमि पर किसी का भी व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा और समस्त समुदाय का सामूहिक रूप से भूमि पर अधिकार प्राप्त होगा।

**(iv) ग्राम राज**– सर्वोदयियों का ग्रामराज गाँधीजी के ''पंचायती राज्य'' जैसा ही है। ग्रामराज में समाज का संगठन छोटे प्रशासनिक इकाइयों में होता है जिसकी जनसंख्या तीन से चार हजार लोगों से अधिक नहीं होती है। ये इकाइयाँ स्वावलम्बी होती हैं तथा प्रतिनिधित्यात्मक प्रजातंत्र के लिए उपयोगी होती हैं। ग्रामराज में व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित होता है। भूमि, श्रम अथवा धन पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहता है।

ग्रामराज्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

**(क) अहिंसा तथा विकेन्द्रीकरण** - ग्रामराज अहिंसा और विकेन्द्रीकरण पर आधारित है। इसमें सम्पूर्ण शक्ति किसी एक केन्द्र में इकट्ठी न होकर ग्रामों में विभाजित रहेगी। इस ग्रामराज में हिंसा, शोषण तथा उत्पीड़न के लिए कोई स्थान नहीं होगा।

**(ख) दलीय राजनीति का अभाव**– ग्रामराज की सारी व्यवस्था पारस्परिक सहयोग एवं सेवा की भावना पर आधारित होगी। इसमें राजनीतिक दलों का अभाव होगा।

**(ग) पारिवारिक एवं सर्व-कल्याण की भावना**– ग्रामराज के प्रत्येक परिवार समस्त समुदाय के कल्याण के लिए उसी प्रकार कार्य करेगा जिस प्रकार कि प्रत्येक परिवार में उसका प्रत्येक सदस्य उसके लिए कार्य करता है।

**(घ) जनता की सच्ची संप्रभुता**– ग्रामराज की अन्तिम शक्ति ग्रामीण जनता में निवास करेगी। इस प्रकार, ग्रामराज में स्वतंत्रता, समानता, पारस्परिक सहयोग तथा भ्रातृत्व भावना का अद्‌भुत सम्मिश्रण होगा।

**(ङ) धर्म-निरपेक्ष राज्य**– ग्रामराज एक धर्म निरपेक्ष राज्य होगा जिसमें लोगों को किसी भी प्रकार के धर्म या विश्वास का पालन करने की स्वतंत्रता होगी, बशर्ते वे किसी अन्य व्यक्ति के धर्म में बाधा न डालें।

इस प्रकार का राज्य, सर्वोदय समाज की स्थापना करेगा जो आगे चलकर ''रामराज'' (Kingdom of God) में परिणत होगा। इसी सर्वोदय समाज की कल्पना गाँधीजी ने की थी।

### 21.3.6 उपविषय : सर्वोदय का मूल्यांकन

आलोचकों के अनुसार, सर्वोदय और साम्यवाद के बीच कुछ समानता है। आचार्य विनोबा भावे ने भी कहा है, ''There is no permanent conflict between the two ideologies– Marxism and Sarvodya.'' दोनों वर्गविहीन, शोषणहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। मगर दोनों में दो महत्त्वपूर्ण भेद हैं– सर्वोदय का आधार 'आध्यात्मिक' है जबकि साम्यवाद का आधार भौतिक है। सर्वोदय सत्य और अहिंसा पर आधारित है जबकि साम्यवाद हिंसा और तोड़-फोड़ का सहारा लेता है।

सर्वोदय समाज की कल्पना महात्मा गाँधी ने की थी। वे एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें सभी स्वतंत्र हों, सभी समान हों तथा वे स्वयं अपना शासन चलाते हों। इस तरह के सर्वोदय समाज में पूर्ण समानता होगी तथा कोई व्यक्ति दूसरों के अत्याचार से पिसा हुआ नहीं होगा। ऐसा समाज आदर्श होगा और इसमें प्रेम तथा सहयोग का राज्य होगा। ऐसे समाज में मनुष्य का अधिक से अधिक नैतिक विकास होगा और उसे अधिक से अधिक स्वतंत्रता होगी। सर्वोदय समाज में सारी शक्ति का विकेंद्रीकरण होगा। समाज के सम्पूर्ण आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ढाँचे में परिवर्तन हो जाएगा। इस प्रकार, सर्वोदय नवीन सामाजिक एवं आर्थिक मूल्यों को जन्म देता है।

मगर आलोचकों के अनुसार सैद्धांतिक दृष्टि से इसमें कोई दोष नहीं है, किन्तु आज की दुनिया में सर्वोदय के आदर्श को व्यवहारिक रूप देना बहुत कठिन है। सर्वोदय के आदर्श को व्यावहारिक रूप देना बहुत कठिन है। उषा मेहता का कहना है, ''Sarvodaya, espiceally in its political aspect, is more an idea which has not yet taken a practical shape.'' मानव प्रकृति आज के युग में स्वार्थ, हिंसा, मोह, संग्रह की प्रवृत्ति से ग्रसित है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के हृदय-परिवर्तन की बात करना, समाज में पूर्ण समानता एवं स्वतंत्रता की स्थापना करना तथा अहिंसा एवं प्रेम के आधार पर आदर्श समाज की स्थापना करना संभव नहीं है।

आलोचकों का यह भी विचार है कि सर्वोदयियों का यह सोचना कि दलीय व्यवस्था समाप्त हो जाएगी, यह संभव नहीं है। जबतक विचारों की स्वतंत्रता है अथवा जब तक मानव-प्रकृति जैसी थी वैसी ही है, तब तक राजनीतिक दल का रहना निश्चित है।

सर्वोदय शुद्ध अथवा प्रत्यक्ष लोकतंत्र के पक्ष में है मगर समाज की आधुनिक व्यवस्था में प्रत्यक्ष लोकतंत्र चल नहीं सकेगा।

विकेन्द्रीकरण का भी विचार भी एक उचित विचार है, किन्तु यह केवल गाँवों के स्वालम्बन पर आधारित नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार, सर्वोदय ने जिस आदर्श समाज की कल्पना की है, वह निश्चय ही प्रशंसनीय है, किन्तु वह एक आदर्श है, जिसे व्यावहारिक रूप देना संभव नहीं प्रतित होता है। जब तक सम्पूर्ण विश्व सर्वोदय के विचार को स्वीकार नहीं करता, तब तक कहीं भी सर्वोदयी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है।

इसलिए कहा जाता है, ''Sarvodaya seems to go wrong not in its diognosis of the evils of modern society but in the remedies suggested for the same.'' अतः सर्वोदय ने समाज की बुराइयों को सही ढंग से उभारा है और उन्हें दूर करने के उपायों की भी चर्चा की है, हाँलाकि यह कठिन लगता है, क्योंकि यहाँ मनुष्य के हृदय परिवर्तन की बात कही गयी है।

अतः यहाँ राजनीति के परित्याग की कोई आवश्यकता नहीं बतायी गयी है, बल्कि राजनीति को उच्चतर स्थिति की ओर ले जाने को प्रेरित किया गया है। यहाँ प्रजातंत्र को कम करने की बात नहीं कही गयी है, बल्कि उसे और अधिक बढ़ाने की बात कही गयी है।

### 21.3.7 उपविषय : निष्कर्ष

सर्वोदय में जो भी व्यावहारिक कमियाँ हों, मगर गाँधीजी के व्यक्तिगत अनुयायियों ने राजनीति का शुद्धीकरण किया तथा उसे मनुष्य के विश्वास तक पहुँचाया है। कम से कम सर्वोदयी गाँधीजी के आदर्शो की हमें याद दिलाते हैं। आचार्य विनोबा भावे, जिन्हें राजनीति में कोई रूचि न थी, भारतवर्ष की महान शक्तियों में से एक हैं और इस महान नेता की कार्य पद्धति का लोगों के जीवन पर जादुई प्रभाव पड़ा।

अत: हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि सर्वोदय तात्विक प्रत्ययवाद के आधार पर राजनीतिक एवं सामाजिक पुनर्गठन की एक शक्तिशाली बौद्धिक प्रयत्न है। यह एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण दर्शन है जिस पर यदि अमल किया गया तो एक नए समाज का आगमन होगा।

## 21.4 सारांश

'सर्वोदय' का अर्थ है सबका उदय, सबका उत्कर्ष, सबका विकास। यह गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत समाज तथा लोगों के जीवन के पुनर्गठन का आदर्श है। सर्वोदय शब्द भले ही नया हो, पर उसका अर्थ भारतीय संस्कृति के लिए नवीन नहीं है। सैकड़ों वर्षो से भारतीय ऋषिगण अपनी तप: पूत वाणी में यहीं संदेश तो देते आए हैं।

सर्वोदय का लक्ष्य एक वर्गविहीन तथा जातिविहीन समाज की स्थापना करना है। सर्वोदय का लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र में स्वच्छ तथा कुशल प्रशासन देना, सामाजिक व्यवस्था का आधार विकेन्द्रीयकरण को मानना, समस्त शक्ति जनता को प्राप्त होना, आदि है। यह एक ऐसा समाज होगा जिसमें कोई किसी का शोषण नहीं करेगा। समाज प्रेम और परस्पर सहयोग पर आधारित होगा।

गाँधीजी ने 'सर्वोदय' के विचार को दिया जिसे उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायी आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, जय प्रकाश नारायण, शंकरराव देव, आदि ने व्यावहारिक रूप दिया।

यद्यपि सर्वोदय के आदर्श को व्यावहारिकता में लागू करना कठिन है, किन्तु इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि यदि इस पर अमल किया गया तो एक आदर्श समाज की स्थापना होगी।

## 21.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

सर्वोदय, आदर्श, समाज, आध्यात्मिक संत, भारतीय संस्कृति, दर्शन, उदय, अहिंसा, सत्य, सम्पूर्ण विकास, वर्ग विहीन, जातिविहीन समाज, साम्यवाद, उपयोगितावाद, पूँजीपतियों, बुर्जुआ, काका कालेलकर, जय प्रकाश नारायण, आचार्य विनोबा भावे, दलीय व्यवस्था, प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र, सर्वसम्मत निर्णय, विकेन्द्रीयकरण, संप्रभुता, भूदान आन्दोलन, सम्पत्ति दान, ग्राम दान, ग्राम राज्य, रामराज, सामाजिक एवं राजनीतिक पुनर्गठन, स्वावलम्बी, स्थानीय संस्थाएँ, कुटुम्ब, शोषण।

## 21.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 21.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. सर्वोदय का लक्ष्य है-

(क) सबका उदय

(ख) कुछ का उदय

(ग) बहुतों का उदय

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (क)**

2. सर्वोदय समाज-

(क) जाति और वर्ग के भेद को मानता है

(ख) जाति विहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहता है

(ग) अमीर और गरीब के भेद को मानता है।

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ख)**

### 21.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वोदय समाज के प्रमुख लक्षणें की विवेचना करें।

(उत्तर - उपविषय 21.3.4)

2. सर्वोदय के आदर्श की साम्यवाद तथा उपयोगितावाद से तुलना करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 21.3.3)

### 20.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'सर्वोदय' के आदर्श की समीक्षा करें।

2. क्या 'सर्वोदय' का आदर्श व्यावहारिक है? टिप्पणी करें।

## 21.7 प्रस्तावित पाठ


1. राजनीति शास्त्र के सिद्धांत – A.C. Kapur
2. प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन – A.K. Verma
3. राजनीति सिद्धांत – एडी आशीर्वादम्


❖❖❖❖

# राजनीतिक आदर्श "सत्याग्रह"

पाठ संरचना

22.1 उद्देश्य
22.2 विषय-प्रवेश
22.3 मुख्य विषय - सत्याग्रह की महत्ता
22.3.1 उपविषय - गाँधीजी की कार्य पद्धति
22.3.2 उपविषय - सत्याग्रह का अर्थ
22.3.3 उपविषय - सत्याग्रही के गुण
22.3.4 उपविषय - सत्याग्रह के विभिन्न रूप
22.3.5 उपविषय - सत्याग्रह के प्रयोग कि स्थितियाँ
22.3.6 उपविषय - सत्याग्रह का मूल्यांकन
22.3.7 उपविषय - निष्कर्ष
22.4 सारांश
22.5 पाठ में प्रयुक्त शब्द
22.6 अभ्यास के लिए प्रश्न
22.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर
22.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न
22.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
22.7 प्रस्तावित पाठ

## 22.1 उद्देश्य

"सत्याग्रह" गाँधीजी द्वारा प्रयोग किया जाने वाला एक राजनैतिक अस्त्र है जिसका प्रयोग गाँधीजी ने समय-समय पर राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने हेतु किया। अत: गाँधीजी के इस राजनीतिक अस्त्र के बारे में पूर्ण जानकारी रखना आवश्यक है। इसके लिए हम सबसे पहले गाँधीजी की कार्य-पद्धति पर विचार करेंगे। उसके बाद हम सत्याग्रह के अर्थ एवं परिभाषा को देखेंगे ताकि हम सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध का पयार्यवाची न समझें। फिर हम, एक सत्याग्रही के आवश्यक गुणों की चर्चा करेंगे। इसके पश्चात् हम सत्याग्रह के विभिन्न रूपों की चर्चा करेंगे। साथ-ही-साथ, यह भी जान लेना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों में सत्याग्रह का प्रयोग होना चाहिए। अंत में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में सत्याग्रह का मूल्यांकन करेंगे। फिर, हम सत्याग्रह के विषय में अपना निष्कर्ष देंगे।

## 22.2 विषय प्रवेश

गाँधीजी का सत्य और अहिंसा में पूर्ण विश्वास था। उनके अनुसार सत्य की कामना सर्वोच्च कामना है। क्योंकि सत्य से बढ़कर कोई ईश्वर नहीं है। मगर सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं और एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। अहिंसा में विश्वास रखने वाला व्यक्ति सजीव ईश्वर में विश्वास रखता है और यही ईश्वर गाँधीजी के लिए 'सत्य' है।

जिस प्रकार गाँधीजी सत्य और अहिंसा में विश्वास रखते थे, उसी प्रकार वे साधन और साध्य में भेद नहीं करते थे तथा दोनों को सतत प्रक्रिया मानते थे। उनका यह विश्वास था कि यदि हम साधन का ध्यान रखें तो, साध्य स्वयं ही अपना ध्यान रखेगा।

गाँधीजी का व्यक्ति की नैतिक पवित्रता में भी दृढ़ विश्वास था। उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में सत्य, अहिंसा, प्रेम, आदि की शक्ति होती है जिसे उसे जागृत करना है ताकि वह सत्याग्रह के मार्ग पर चल सके।

इस प्रकार, गाँधीजी को सत्य और अहिंसा, साध्य और साधन की श्रेष्ठता तथा व्यक्ति की नैतिक पवित्रता में दृढ़ आस्था थी और अपने इन्हीं विश्वासों के आधार पर उन्होंने बुराई के प्रतिरोध में एक नवीन मार्गका अविष्कार किया, जिसे सत्याग्रह का नाम दिया गया।

सत्याग्रह राजनीतिक अस्त्रों के शस्त्रागार में गाँधीजी द्वारा प्रदान किया गया एक अद्‌भुत अस्त्र था तथा क्रांति की एक नवीन पद्धति थी। यह एक नवीन विज्ञान तथा कर्म दर्शन का एक नया रूप है।

## 22.3 मुख्य विषय : सत्याग्रह की महत्ता

सत्याग्रह 'आत्म-शक्ति' या हमारे अन्दर के ''ईश्वर की शक्ति'' है। इसे ''आत्मिक शक्ति'' ''प्रेम शक्ति'' अथवा ''सत्य की शक्ति'' भी कह सकते हैं। सत्याग्रह सत्य की विजय हेतु किए जानेवाले आध्यात्मिक और नैतिक संघर्ष का नाम है। सत्याग्रह बुराई पर अच्छाई के द्वारा विजय-प्राप्त करने का एक अद्‌भुत तरीका है। सत्याग्रह की महत्ता इसी में है कि हम अपने विरोधियों को दु:खी बनाने की बजाय स्वयं अपने पर दु:ख डालकर सत्य को विजयी बनाने का प्रयास करते हैं। इसी को सत्याग्रह कहते हैं।

महात्मा गाँधी के शब्दों में, ''I am the keeper of the light house called "Satyagraha" (Self-force). It is a principle for which I desire to live and for which I believe I am equally prepared to die. ''

सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिशोध नहीं मानना चाहिए। गाँधीजी ने स्वयं इस बात से सचेत किया था कि सत्याग्रह का अर्थ शत्रु के सम्मुख हथियार डालना नहीं है, वरन् शत्रु का हृदय परिवर्तन करना है। अत: सत्याग्रह को निषेधात्मक शक्ति मानना उचित नहीं है। ''It is no negative force ..... It is a force which is more positive than electricity and more powerful than even other.''

अत: सत्याग्रह की महत्ता असंदिग्ध है।

### 22.3.1 उपविषय : गाँधीजी की कार्यपद्धति

गाँधीवाद एक पूर्णतया नैतिक दर्शन है और इसके अनुरूप उनकी कार्य-पद्धति भी पूर्णतया नैतिक है। सत्य और अहिंसा पर जोर देने वाले गाँधीजी का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारा साध्य नैतिक हो, यह बात भी उतनी ही आवश्यक है कि हमारे साधन भी नैतिक हों। साधनों की अनैतिकता निश्चित रूप से साध्य की नैतिकता को नष्टकर देती है। अत: श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों को ही अपनाया जाना चाहिए। स्वयं गाँधीजी के शब्दों में, ''साधन बीज है और साध्य वृक्ष; इसलिए, जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। मैं शैतान की उपासना करके ईश्वरोपासना का फल प्राप्त नहीं कर सकता।'' साधन की

पवित्रता का आग्रह करके गाँधीजी ने ''राजनीति के अध्यात्मकरण'' की ओर सबसे बड़ा कदम उठाया। उनके समय तक यह सामान्य धारणा प्रचलित थी कि राजनीति में सफलता ही सर्व-प्रमुख है और सफलता की प्राप्ति के लिए उचित-अनुचित सभी साधन अपनाये जा सकते हैं। मगर गाँधीजी ने इसे अस्वीकार करते हुए यह धारणा व्यक्त की कि ''साधन साध्य के अनुरूप ही होना चाहिए।''

गाँधीजी के साध्य और साधन के बारे में इस विचार ने राजनीति-जगत में क्रांतिकारी परिवर्तन लाया था।

### 22.3.2 उपविषय : सत्याग्रह का अर्थ

सत्याग्रह की पद्धति गाँधीजी की राजनीति को विशेष एवं अपूर्व देन है। स्वयं गाँधीजी के शब्दों में, ''अपने विरोधियों को दुःखी बनाने की बजाय स्वयं अपने पर दुःख डालकर सत्य की विजय प्राप्त करना ही सत्याग्रह है। ''गाँधीजी को यह विश्वास था कि अन्याय को मिटाने का सच्चा तरीका यह है कि अपने पर कष्ट सहन और उच्च चरित्र के द्वारा अत्याचारी की अन्तरात्मा और बुद्धि को प्रभावित करके उसके विचार बदले जाएँ और उसे स्वेच्छापूर्वक नई समाज व्यवस्था का सहायक बनाया जाय। इस काम के लिए उन्होंने जिस कार्यपद्धति का विकास किया वह सत्याग्रह की पद्धति है, अर्थात् स्वयं अवर्णनीय कष्ट उठाकर और मृत्यु का आलिंगन करके सत्य एवं अहिंसा पर अटल रहने की पद्धति है। गाँधीजी के शब्दों में, ''Satyagraha is a vindication of truth by learing witness to it through self-suffering, in other words, love.''

इसी प्रकार A.C. Kapur ने भी सत्याग्रह के विषय में कहा है, ''The technique of satyaagraha is gandhiji's unique and distinctive contribution not only to the armory of political weapons, and the technique of revolution, but to the store of human-knowledge and thought as well. It was tried and found successful in limited fields and it can be applied in new and wider fields.''

'सत्याग्रह' दो शब्दों के मेल से बना है-'सत्य' और 'आग्रह'। अतः इसका शाब्दिक अर्थ है-''सत्य से चिपके रहना'' अथवा ''सत्य को धारण किए रहना''। गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह आत्म-शक्ति अथवा प्रेमशक्ति एक ऐसा सिक्का है जिसकी एक ओर सत्य लिखा है तो दूसरी और प्रेम।

इस प्रकार ''सत्याग्रह'' सत्य की विजय हेतु किए जाने वाले आध्यात्मिक और नैतिक संघर्ष का नाम है। सत्याग्रह शक्तिशाली और वीर मनुष्यों का अस्त्र है। यह शरीर से कमजोर मगर नैतिक रूप से शक्तिशाली मनुष्यों का अस्त्र है। यह शारीरिक और नैतिक रूप से शक्तिशाली मनुष्यों का अस्त्र भी है मगर यह कदापि उन मनुष्यों का अस्त्र नहीं है जो नैतिक रूप से कमजोर हैं।

एक सत्याग्रही ही अपने प्रतिद्वन्दी से आध्यात्मिक संबंध स्थापित कर लेता है। वह उसमें ऐसा विश्वास उत्पन्न कर देता है कि वह बिना अपने को नुकसान पहुँचाये उसको नुकासान नहीं पहुँचा सकता है। ''All conflicts are to be resolved by the mighty weapon of satyagraha by lifting these from the gross physical plane to elevated spiritual and moral plane where they can be adjusted by the union of the soul, by the deep calling into the deep.''

सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर :-

अनेक बार सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध का ही पयार्यवाची समझ लिया जाता है, किन्तु गाँधीजी ने सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में कुछ अन्तर बताने का प्रयास किया है, हालांकि दोनों ही अस्त्र शत्रु के अत्याचारों का मुकाबला करने, संघर्ष को सुलझाने तथा सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए उपयोग किए जाते हैं। मूलतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सत्याग्रह व्यापक रूप में प्रयोग किया जाने वाला अस्त्र है और निष्क्रिय प्रतिरोध उसका ही एक अंग मात्र है। सत्याग्रह अहिंसा का सकारात्मक स्वरूप है तो निष्क्रिय प्रतिरोध उसका नकारात्मक स्वरूप। फिर भी दोनों में कुछ अन्तर है-

(क) सत्याग्रह नैतिकता का वह अस्त्र है, जिसका आत्म-शक्ति द्वारा संचालन किया जाता है। निष्क्रिय प्रतिरोध राजनैतिक परिवर्तन लाने की क्रिया है।

(ख) सत्याग्रह बलवान व्यक्तियों का अस्त्र है, उनका अस्त्र है जो दूसरों की हत्या करे बगैर स्वयं को मरने के लिए तैयार रहते हैं, मगर निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बल व्यक्तियों का अस्त्र है।

(ग) सत्याग्रह द्वारा शत्रु का हृदय परिवर्तन किया जाता है। वह शत्रु को प्रेम से जीतता है। निष्क्रिय प्रतिरोध शत्रु को अशक्त बनाकर अपना उद्देश्य पूरा करता है।

(घ) सत्याग्रह में घृणा के लिए कोई स्थान नहीं है। वह शत्रु के प्रति भी प्रेम प्रदर्शन करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु के लिए प्रेम जैसी कोई वस्तु नहीं है।

(ङ) सत्याग्रह में सत्याग्रही स्वयं ही अधिकतम कष्ट झेलने के लिए तैयार रहता है, किन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को परेशान करने की भावना पर बल दिया जाता है।

(च) सत्याग्रह पूर्णतः अहिंसात्मक है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध में समय पड़ने पर हिंसा का भी प्रयोग किया जाता है।

(छ) सत्याग्रह आत्म शुद्धि पर सर्वाधिक बल देता है, परन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध में शरीर की आंतरिक शुद्धि जैसी कोई भावना नहीं होती।

(ज) सत्याग्रह का उपयोग सर्वत्र किया जा सकता है, जबकि निष्क्रिय प्रतिरोध का उपयोग केवल सीमित क्षेत्र में ही किया जा सकता है।

इस प्रकार, सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है, वरन् सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध है। महादेव देसाई के शब्दों में, "Satyagraha is dynamic, active, but resistance is static. Passive resistance acts negatively and suffers reluctantly. Satyagraha acts positively and suffers with heartulness. Passive resistance is not universal in its application. It cannot be directed against one's nearest relations as satyagraha can be. Passive resistance effered in a spirit of despair weakens the resister psychologically and morally. Satyagraha emphasises all the time internal strength and actually develop the same. Satyagrahi can offer more offective determined opposition to injustice and tyranny than passive resistance."

### 22.3.3 उपविषय : सत्याग्रही के गुण

गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रही में कुछ विशेष गुण होने चाहिए। उनके अनुसार सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य पर चलने वाला हो, अनुशासन में रहनेवाला हो तथा मनसा वाचा-कर्मणा अहिंसा में विश्वास रखने वाला हो। सत्याग्रही कभी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छल-कपट, झूठ, हिंसा, इत्यादि का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ करता है, खेल रूप में करता है और अपनी कमजोरियों व भूलों को छिपाने के बजाय खेल रूप में स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है। गाँधीजी ने "हिन्द-स्वराज" में सत्याग्रही के लिए व्रतों का पालन करना आवश्यक बतलाया है। ये व्रत निम्नलिखित हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भरता सभी धर्मों के प्रति समान दृष्टि रखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण।

अतः सत्याग्रही में ऊपर वर्णित गुण होना चाहिए।

### 22.3.4 उपविषय : सत्याग्रह के विभिन्न रूप

गाँधीजी के अनुसार सत्याग्रह का यह शस्त्र विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग रूप ग्रहण करता है-

**1. असहयोग आन्दोलन (Non-co-operation movement)**– गाँधीजी का यह विचार था कि लोगों का शोषण इसलिए होता है क्योंकि वे सरकार को सहयोग देते हैं। यदि लोग सरकार को सहयोग देना छोड़ दें तो सरकार कार्य कर ही नहीं पाएगी। गाँधीजी का कहना था, "Even the most despotic government cannot stand except with the consent of the governed, which consent is forcifly procured by the despot."

असहयोग आन्दोलन अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक शक्तिशाली अंग है। इसके पीछे विरोधी से असहयोग करके उसकी शक्ति क्षीण करने की भावना रहती हैं। इस अस्त्र का प्रयोग निजी एवं सार्वजनिक दोनों ही जीवन में किया जा सकता है। गाँधीजी ने भारत में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध इसी अस्त्र का प्रयोग किया था।

असहयोग आन्दोलन के विभिन्न रूप इस प्रकार से हैं-

(क) हड़ताल

(ख) बहिष्कार

(ग) धरना

**(क) हड़ताल**-यह भी सत्याग्रह का रूप है। इसमें काम बंद कर दिया जाता है अथवा रोक दिया जाता है। यह विरोध के रूप में किया जाता है। इसके द्वारा शासन एवं जनता का ध्यान आकर्षित किया जाता है। हड़ताल को प्रभावशाली होने के लिए दो बातें आवश्यक हैं- (i) हड़ताल हमेशा नहीं होनी चाहिए (ii) इसे ऐच्छिक होना चाहिए तथा इसमें हिंसा का प्रयोग नहीं होना चाहिए।

गाँधीजी के अनुसार हड़ताल करने वालों को हाथ के कार्य का ज्ञान होना चाहिए, ताकि आवश्यकता पड़ने पर अपनी आजीविका चला सकें।

**(ख) बहिष्कार**- इसका उपयोग भी सत्याग्रह के अस्त्र के रूप में किया जाता है। उन सभी लोगों का बहिष्कार होना चाहिए जो सरकार के विरूद्ध जनता को सहयोग नहीं देते हैं। भारत में जाति बहिष्कार आदि के रूप में इसका उपयोग बहुत पहले से किया जाता आ रहा है। लोकमान्य तिलक ने ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध विदेशी माल के बहिष्कार के रूप में इसका प्रयोग किया था।

**(ग) धरना**– गाँधीजी ने 1920-22 तथा 1930-34 में इस अस्त्र का उपयोग मादक द्रव्यों, शराब, अफीम तथा विदेशी वस्त्रों आदि की दुकानों के लिए किया। उनका उद्देश्य इन वस्तुओं के विरूद्ध जनमत तैयार करना था। धरना के बारे में गाँधीजी का कहना है कि इसे शांतिपूर्ण होना चाहिए। इसमें किसी भी प्रकार से हिंसा या बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए। साथ-ही-साथ किसी भी प्रकार की असभ्यता या अनुशासनहीनता प्रदर्शित नहीं होनी चाहिए। गाँधीजी ने पुतला-दहन, भूख-हड़ताल, आदि की भी मनाही की है।

**2. सविनय अवज्ञा (Civil Disobediance)**– यह असहायोग का अंतिम रूप होता है तथा यह असहयोग का सबसे कठोर रूप भी है। सविनय अवज्ञा रक्तहीन क्रांति का दूसरा नाम है। इसका उपयोग किसी कानून-विशेष के विरोध में अथवा संपूर्ण शासन के विरोध में किया जाता है। इसका उद्देश्य अन्यायी शासन के विरूद्ध किया जाता है। इसका उद्देश्य भ्रष्ट शासन को ठप्प करना होता है। गाँधीजी ने इसका प्रयोग चम्पारण में नील की खेती करनेवाले किसानों के सहायतार्थ नील के विदेशी ठेकेदारों के विरूद्ध किया। इसी प्रकार इसका प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन एक्ट एवं उंगलियों की छाप के विरोध में किया था। 1920-22, 1930-34 तथा 1942 में इस अस्त्र का प्रयोग ब्रिटिश शासन के विरोध में किया।

**3. हिजरत**- सत्याग्रह का एक अन्य रूप जिसकी चर्चा गाँधीजी ने की है वह है "हिजरत"। इसमें आन्दोलनकर्त्ता अपनी स्वेच्छा से अपने निवास स्थान को त्याग करके अन्य स्थान पर जाकर निवास करते हैं। गाँधीजी ने बारदोली, लिम्बती, जूनागढ़ तथा विट्ठलगढ़ के निवासियों तथा 1935 में कविघा के हरिजनों को उच्चवर्णीय हिन्दुओं के त्रास से मुक्त होने के लिए अपना स्थान छोड़ने की सलाह दी।

**4. अनशन**– यह सत्याग्रह का सबसे शक्तिशाली रूप है। गाँधीजी इसे ''आग्नेय अस्त्र'' कहते थें। गाँधीजी इसे एक खतरनाक अस्त्र कहते थे, अतः इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए। अनशन का प्रयोग सभी अवसरों पर नहीं करना है, बल्कि खास मौकों पर ही करना है। अनशन के द्वारा सत्याग्रही स्वयं पर कष्ट झेलकर शत्रु के हृदय परिवर्तन की कोशिश करता है। गाँधीजी द्वारा चौरी-चौरा में दुर्घटना के बाद फरवरी 1922 में 5 दिनों का उपवास किया गया था।

**5. हड़ताल (Strike)** – यह कामगारों अथवा मजदूरों का हथियार है। इसके द्वारा मजदूर शोषण, अन्याय, आदि के विरोध में अपने मालिकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। गाँधीजी के अनुसार Strike अहिंसात्मक होनी चाहिए तथा मजदूरों की अपने मालिकों के विरूद्ध जो माँगें हैं वह जायज होनी चाहिए। इस प्रकार, गाँधीजी ने सत्याग्रह के रूप में ऊपर वर्णित उपायों को बतलाया है। गाँधीजी ने तो विदेशी आक्रमण के विरूद्ध भी सत्याग्रह की एक क्रियात्मक विधि बतायी थी, हाँलाकि उसे कार्यन्वित होने का अवसर नहीं मिला।

### 22.3.5 उपविषय : सत्याग्रह के प्रयोग की स्थितियाँ

सत्याग्रह के विभिन्न रूपों को जान लेने के पश्चात् हमें यह जान लेना आवश्यक है कि इसका प्रयोग कब किया जाना चाहिए। इसके प्रयोग में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए। इसके प्रयोग हेतु गाँधीजी ने कुछ आदेश दिए हैं–

(क) इसका उपयोग कर लेने से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रह गया है। सर्वप्रथम विरोधी को शांतिपूर्वक समझाना चाहिए। लेकिन जब सभी उपाय असफल हो जाएँ, सभी सत्याग्रह का उपयोग करना चाहिए।

(ख) सार्वजनिक सत्याग्रह के लिए सर्वप्रथम जनसमूह को इसकी उपयोगिता समझनी चाहिए तथा इसके लिए मानसिक रूप से तैयार रहना चाहिए।

(ग) सत्याग्रह आरंभ करने से पहले अपनी न्यूनतम माँग निश्चित कर लेनी चाहिए तथा किसी भी अवस्था में उससे कम या अधिक स्वीकार नहीं करना चाहिए।

(घ) सत्याग्रह को समझौते की भावना लेकर ही सत्याग्रह का अनुसरण करना चाहिए, परन्तु उसे कभी भी मुख्य आधारभूत नैतिक विषय पर समझौता नहीं करना चाहिए।

(ङ) सत्याग्रह को अहिंसा के साथ त्याग की भावना लेकर चलना चाहिए। कोई भी देश बिना पीड़ा की अग्नि में शुद्ध हुए ऊपर नहीं उठ सकता है। अतः सत्याग्रही को बलिदान करने के लिए (जीवन तक को) सदैव तैयार रहना चाहिए।

सत्याग्रही को प्रायः गाँधीजी के अनुसार पाँच अवस्थाओं में से गुजरना होता है। सर्वप्रथम, उसे जनता की उदासीनता सहनी पड़ती है। दूसरा, उसे जनता का उपहास-पात्र बनना पड़ता है। तीसरे, सत्याग्रही के कार्यों से जिन्हें हानि पहुँचती है, वे उनकी निन्दा करते हैं। चौथे, सत्याग्रही को अधिकारी वर्ग का दमन सहना पड़ता है। पाँचवें, सत्याग्रह के सफल होने पर सत्याग्रही को विजय एवं आदर दोनों की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार, सत्याग्रही में अदम्य साहस, धर्य तथा पवित्रता का होना आवश्यक है।

### 22.3.6 उपविषय : मूल्यांकन

जहाँ गाँधीजी के सत्याग्रह की कई लोगों ने प्रशंसा की, वहीं कुछ लोगों ने इसकी आलोचना भी की है। उनका कहना है–

**(i) सत्याग्रह अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं है**– आलोचकों के अनुसार सत्याग्रह से उन व्यक्तियों को निश्चित रूप से मानसिक और अनेक बार शारीरिक कष्ट भी पहुँचता है जिसके विरूद्ध इसका व्यवहार किया जाता है। अतः आर्थर मूर ने इसे ''मानसिक हिंसा'' (Mental Violence) कहा है। आलोचकों द्वारा सत्याग्रह के एक रूप ''उपवास'' को आतंकवाद और

राजनीतिक दबाव (Political Blackmail) की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार, सत्याग्रह अहिंसा की धारणा के अनुकूल नहीं है।

(ii) सत्याग्रह का प्रयोग सभी परिस्थितियों में संभव नहीं है– आलोचकों का कहना है कि स्वतंत्र समानों में जहाँ विवेक, मानवता के प्रति आदर और न्याय विद्यमान हो, सत्याग्रह का भले ही सरलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु निरंकुश शासनों के विरूद्ध अथवा बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से बहुत अधिक पिछड़े हुए लोगों के विरूद्ध सत्याग्रह की सफलता में संदेह है। डा० बन्दरा के शब्दों में, "इस बात का सामान्यीकरण करना कि सत्याग्रह द्वारा कहीं भी और किसी भी प्रकार के लोग अन्यायी, विरोधी का हृदय परिवर्तन कर सकते हैं, आत्मनाशन है।"

(iii) अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में या आक्रमण के प्रतिरोध में सत्याग्रह का प्रयोग संभव नहीं है– आलोचकों के अनुसार हवाई हमले और परमाणु युद्ध के आक्रमण के प्रतिरोध हेतु सत्याग्रह की बात हास्यप्रद ही लगती है।

(iv) अहिंसात्मक साधनों से सामाजिक और आर्थिक परविर्तन लाना बहुत कठिन है– साम्यवादी, अराजकतावादी तथा अन्य क्रांतिकारी विचारधारा वाले व्यक्ति गाँधीवाद की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सत्याग्रह जैसे अहिंसक साधनों के आधार पर सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है।

(v) सत्याग्रह के नाम पर दुरूपयोग की आशंका– विविध पक्षों द्वारा अपने क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति हेतु जो आन्दोलन किए जाते हैं, उन्हें सत्याग्रह का नाम दिया जाता है, जबकि वे दुराग्रह होते हैं।

इस प्रकार, सत्याग्रह में ऊपर वर्णित कमियाँ हैं।

### 22.3.7 निष्कर्ष

अतः हम यह कह सकते हैं कि सत्याग्रह का औचित्य-अनौचित्य या श्रेष्ठता-निम्नता इस बात पर निर्भर करती है कि उसका प्रयोग किस प्रकार के व्यक्तियों द्वारा हो रहा है। वास्तव में, दोष सत्याग्रह में नहीं है वरन् सत्याग्रह का उपयोग करनेवाले व्यक्तियों के हैं। स्वयं गाँधीजी ने सत्यागह के नियम और सत्याग्रही के गुण का उल्लेख करते हुए कहा था कि, "यदि उनका पालन किया जाय तो सत्याग्रह निश्चित रूप से एक श्रेष्ठ, नैतिक, अहिंसक और प्रभावशाली अस्त्र है।"

## 22.4 सारांश

'सत्याग्रह' गाँधीजी द्वारा प्रयोग किया जाने वाला एक राजनीतिक अस्त्र है जिसे गाँधीजी ने समय-समय पर राजनीतिक समस्याओं को सुलझाने हेतु किया। सत्याग्रह सत्य की शक्ति, प्रेम की शक्ति अथवा आत्मिक शक्ति का ही दूसरा नाम है। अपने विरोधियों को दुःखी बनाने की बजाय स्वयं अपने पर दुःख डालकर सत्य की विजय प्राप्त करना ही सत्याग्रह है। गाँधीजी के अनुसार, "सत्याग्रह तो सत्य की विजय हेतु किये जानेवाले आध्यात्मिक एवं नैतिक संघर्ष का नाम है।"

सत्याग्रह शक्तिशाली और वीर मनुष्यों का अस्त्र है, न कि कमजोरों का। सत्याग्रह को निष्क्रिय प्रतिरोध का पर्यायवाची भी समझना उचित नहीं है।

सत्याग्रह पूर्णतः अहिंसात्मक है। यह सत्य और अहिंसा पर आधारित है। गाँधीजी के शब्दो में, "With satya (truth) combined with ahinsa (non-violence), you can bring the world to your feet. Satyagraha in essence is nothing but the introduction of truth and gentleness in the poltical, that is, the national life."

सत्याग्रह के उपाय निम्नलिखित हैं–

(क) असहयोग आन्दोलन जैसे धरना, बहिष्कार, हड़ताल, आदि।

(ख) सविनय अवज्ञा जैसे हिजरत, अनशन, हड़ताल आदि।

गाँधीजी ने सर्वप्रथम दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह रूपी अस्त्र का प्रयोग किया था। उन्हें वहाँ अत्यधिक सफलता भी मिली थी। भारतवर्ष में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में भी सत्याग्रह का व्यापक पैमाने पर प्रयोग किया गया। विश्व के स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में रक्तहीन क्रांति केवल भारत में हुई है।

## 22.5 पाठ में प्रयुक्त प्रमुख शब्द

सत्याग्रह, राजनीतिक अस्त्र, कार्य पद्धति, निष्क्रिय प्रतिरोध, सत्य, अहिंसा, साध्य-साधना, पवित्रता, अध्यात्मीकरण, क्रांतिकारी परिवर्तन, सत्य की शक्ति, प्रेम-शक्ति, आत्मिकशक्ति, प्रतिद्वन्दी, आध्यात्मिक संबंध, आत्म-शुद्धि, सत्याग्रही, प्रेम, असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा, हिजरत, हड़ताल, बहिष्कार, अनशन, धरना, नैतिक अस्त्र, त्याग, रक्तहीन क्रांति, प्रभावशाली अस्त्र, अहिंसक।

## 22.6 अभ्यास के लिए प्रश्न

### 22.6.1 वस्तुनिष्ठ प्रश्न एवं उनके उत्तर

1. सत्याग्रह की पद्धति-

(क) सत्य पर आधारित है

(ख) अहिंसा पर आधारित है

(ग) सत्य और अहिंसा पर आधारित है

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

2. सत्याग्रह का अर्थ है-

(क) निष्क्रिय प्रतिरोध

(ख) सक्रिय प्रतिरोध

(ग) सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध

(घ) ऊपर में से कोई नहीं

**उत्तर - (ग)**

### 22.6.2 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गाँधीजी की कार्य-पद्धति की विवेचना करें।

(उत्तर - उपविषय 22.3.1)

2. सत्याग्रह के विभिन्न रूप कौन-कौन से हैं? विवेचना करें।

(उत्तर - देखें उपविषय 22.3.4)

### 22.6.3 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गाँधीजी के सत्याग्रह के विभिन्न रूपों की समीक्षा करें।

2. क्या आपके विचार में सत्याग्रह आज के युग में व्यावहारिक होगा? टिप्पणी करें।

3. 'सत्याग्रह' की राजनीतिक अस्त्र के रूप में समीक्षा करें।

## 22.7 प्रस्तावित पाठ


| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. | प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन | – | **A.K. Verma** |
| 2. | राजनीति शास्त्र के सिद्धांत | – | **A.C. Kapur** |
| 3. | राजनीति सिद्धांत | – | **एडी आशीर्वादम्** |


❖❖❖❖